श्रीरुद्रयामलतन्त्रोक्तं

परात्रिंशिका

सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृतत्रिकरञ्जनी
हिन्दी–व्याख्यासंवलिता

तथा

श्रीमत्सोमानन्दप्रभुपादविरचिता परात्रीशिका-तात्पर्यदीपिकोपेता
श्रीमत्सर्वानन्दनाथविरचितम्

सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरेण
भूमिकया सह सम्पाद्य
प्रकाशितम्

Rs. 25/-

परात्रिंशिका

PARATRINSHIK

SHRI MADHVANAND GRANTHAMALA'S
ELEVENTH PUSHPAM-

SHRI RUDRAYAMAL'S

PARATRINSHIK

with the

Commentary Trikaranjani

SARVADARSHNACHARYA SHRI KRISHNANAND SAGAR

and

PARATRINSHIK-TATPARYADIPIKA

of

SHRI SOMANANDAPADACHARYA

Edited with the Introduction

by

SARVADARSHNACHARYA SHRI KRISHNANAND SAGAR

श्रीमाधवानन्दग्रन्थमालाया एकादशं पुष्पम्—

श्रीरुद्रयामलतन्त्रोक्तं

परात्रिंशिका

सर्वदर्शनाचार्य श्रीकृष्णानन्दसागरकृतत्रिकरञ्जनी
हिन्दी-व्याख्यासंवलिता

तथा

श्रीमत्सोमानन्दप्रभुपादविरचिता परात्रीशिका-तात्पर्यदीपिकोपेता

सर्वदर्शनाचार्य श्रीकृष्णानन्दसागरेण

भूमिकया सह सम्पाद्य

प्रकाशिता

Published by—

ACHARYA KRISHNANAND

D 38/135

Bans phatak, Varanasi, U.P.

All Rights Reserved by the Publisher

First Edition - 1987

Price Rs. 25

Printed by

Kalaniketan, Varanasi, U.P.

भूमिका

प्रस्तुत श्रीपरात्रिंशिका ग्रन्थरत्न आगमशास्त्र की परम्परा का है, 'रुद्रयामल' तन्त्र से इसका उद्गम माना जाता है; इस लिये कि 'परात्रिंशिका' के अन्तिम श्लोक 'इत्येतद् रुद्रयामलम्' इस वाक्य से अवगत होता है। कश्मीर शैवदर्शन में इस ग्रन्थ की प्रधानता देखी जाती है और साधना या आध्यात्मिक सम्प्रदाय में इसकी सर्वश्रेष्ठता दिखलायी है। तत्कालीन मुख्य साधना या आचारों की गणना और एक दूसरे से क्रमिक उत्कृष्टता का उल्लेख निम्नांकित पद्य से उपलब्ध होता है। जैसा कि—

'वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥'

इस प्रकार त्रिक सम्प्रदाय को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है; इस लिये कि त्रिकाचार अद्वैतपरक है, इससे भिन्न सभी आचार-धर्म अधिकारी भेद से एवं देश-कालगत भेद से अपने आप में न्यूनाधिक है, किन्तु त्रिकाचार की परिपूर्णता अपने आपमें युक्तियुक्त सिद्ध है। वस्तुतः त्रिक शैवदर्शन का एक स्वतन्त्र अंग है। त्रिक का अर्थ है कि "नर-शक्ति-शिवात्मकं त्रिकम्"। अर्थात् समस्त विश्वप्रपञ्च में आभासमान शिवात्मक, शक्त्यात्मक एवं नरात्मक वस्तुतत्त्वमय ही त्रिक है तथा त्रिक मान्यतानुसार साधना द्वारा आत्मरूप में अनुभव करवाने के लिये उपयोगी जिस ज्ञानमार्ग या योगमार्ग की प्रस्तुत परात्रिंशिका शास्त्र में विचार-धारा पायी जाती है, उसी का शास्त्रीय नाम त्रिक सम्प्रदाय या त्रिकाचार है। कि वा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयात्मक वस्तुत्रय को भी त्रिक अर्थात् त्रिपुटी कहा जाता है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इसकी 'त्रिंशिका च अनुत्तरसूत्रम्' भी कहा है। परात्रिंशिका की वास्तविक संज्ञा प्राचीनकाल में परात्रीशिका भी उपलब्ध होती है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्वकृति विवृति में त्रीशिका शब्द की व्याख्या की है कि—'तिसृणाम्-इच्छा-ज्ञान-क्रियाणां-ईशिका···ईश्वरी···शक्तिभेद-त्रयोत्तीर्णा तच्छक्त्यविभागमयी संविद्भगवती-भट्टारिका परा' अभिधेयं; तद्योगा-देव च इदमभिधानं त्रीशिकाख्यम्'। अर्थात् इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति विश्व की संचालिका है, अतः पराशक्ति ही इस शास्त्र का वर्ण्यविषय है,

इन तीन विभिन्न शक्तियों की मौलिक विभागशून्य अवस्था ही भगवती संवित्-शक्ति या पराभट्टारिका है।

इस 'परात्रिंशिका' के ऊपर श्रीमत्सोमानन्दपाद की 'तात्पर्यदीपिका' मौलिक ग्रन्थ का अक्षरशः वर्णन बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादन करती है। यद्यपि सारी व्याख्या पद्यात्मक शैली में विरचित है, तो भी मूलभूत रुद्रयामल-तन्त्रोक्त पद्यों का अनुसरण करती हुई प्रत्येक शब्द के गूढार्थ को खोल देती है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ हुई हैं, किन्तु कालगत प्रभाव से इन में से कुछ अनुपलब्ध भी है। हम आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थ में उपलब्ध व्याख्याओं को संगृहीत कर प्रसिद्ध कर रहे हैं। 'तात्पर्यदीपिका' तथा हिन्दी व्याख्या त्रिकरञ्जनी के साथ लघुकलेवर के रूप में विद्यमान इस ग्रन्थ को शिवभक्तों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए अतिहर्ष का अनुभव कर रहे हैं। भगवान् परमशिव सभी भक्तजनों का कल्याण करें।

●

कृष्णानन्दसागरः

महाशिवरात्रिः १९८७

ॐ श्रीसच्चिदानन्दाय नमः

अथ

रुद्रयामलतन्त्रोक्तं

परात्रिंशिका

अनुत्तरं कथं देव ! सद्यः कौलिकसिद्धिदम् ।
येन विज्ञातमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत् ॥ १ ॥
हृदयस्था तु या शक्तिः कौलिकी कुलनायिका ।
तां मे कथय देवेश ! येन तृप्तिं लभाम्यहम् ॥ २ ॥

सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृतत्रिकरञ्जनी-हिन्दी-व्याख्योपेता

भगवती श्रीमहादेवी महती जिज्ञासा के साथ तात्त्विक त्रिकवस्तुतत्त्व के विषय में भगवान् परमशिव से पूछती है कि—हे सर्ववस्तु के अवभासन करने वाले महादेव ! अनुत्तर-निरतिशय चिदानन्दस्वरूप किस प्रकार से अनुभूति का विषय हो सकता है ? जो कि अपरोक्षतया आत्मसात् कर लेने मात्र से ही अविलम्ब कौलिकसिद्धि-आत्मविश्रान्तिरूप ऐश्वर्यसिद्धि को प्रदान कर देता है। जिस परसंविद्रूप विमर्शस्वरूप का विज्ञान विज्ञात-हृदयङ्गम हो जाने मात्र से ही योगवेत्ता पुरुष में खेचरीसमता का अर्थात् चिद्गगनात्मिका विमर्शरूपा अबबोध शक्ति की साम्यावस्था का संचारण हो जाता है ॥ १ ॥

जो हृदय में अवस्थित चिति-शक्ति है वह कौलिकी कुलनायिका नामक है अर्थात् समस्त कुल का संचालन करने वाली कौलिकी शक्ति प्रत्येक प्रमेय-पदार्थ के हृदय में विद्यमान रहती है। यह तात्पर्य है कि 'हृत्' शब्द से संवित्स्वरूप ग्राह्य है। यह संवित् नीलादि बाह्य पदार्थों का, आभ्यन्तर सुखादिकों का तथा देह प्राण बुद्धि आदि का सर्वोच्च पर-प्रतिष्ठान है। इस हृदय स्थान में स्थित संवित् के स्वकीय स्वातन्त्र्यमल से ये सारे घटादि ज्ञानों के विचित्रप्रकारक कल्पित भेद हैं उन सभी के गर्भ में अवस्थित होकर यह संवित् स्फुरणमयी शक्ति कुलनायिका विद्यमान रहती है अर्थात् शरीरेन्द्रियों को प्रस्फुरण प्रदान करती है। 'कौलिकी' शब्द का अर्थ यह है कि कुल में उत्पन्न होने वाली अकुलरूपा कौलिकी अर्थात् कुलज्ञातृवर्ग और ज्ञेयवर्ग का रूप धारण करने वाले जडाजड में संव्याप्त रहने पर भी अकुल—इससे (कुल से) अतीत शक्ति का नाम कौलिकी शक्ति है, कि वा कुल सभी क्रियात्मकता का केन्द्र शरीर में, अकुल अर्थात् कुल से अतीत चिद्रूप में स्थित तत्त्व का नाम कौल है, वह आध्यात्मिक परतत्त्व स्वयं भी जिसके अन्तरतम में तादात्म्यरूप से विद्यमान

एतद्गुह्यं महागुह्यं कथय स्व मम प्रभो।
शृणु देवि महाभागे उत्तरस्याप्यनुत्तरम् ॥ ३ ॥
कौलिकोऽयं विधिर्देवि मम हृद्व्योम्न्यवस्थितः।
कथयामि सुरेशानि सद्यः कौलिकसिद्धिदम् ॥ ४ ॥

है, उसको कौलिकीशक्ति कहते हैं। हे ब्रह्मादि देवों के स्वामिन्! उस चिति-शक्ति का मुझ जिज्ञासु के प्रति वैखरी वाणी से उपदेश कीजिये, जिसके श्रवण से मैं भुक्ति-मुक्तिरूपा तृप्ति-निराकांक्षता को प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

हे मेरे हृदय में स्थित हो कर स्वरूपात्मक विज्ञानवस्तु का प्रभवन करने वाले स्वामिन्! यह अनुत्तरतत्त्व अतीव सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से गुह्य है, अतः वह अव्यक्त है और बुद्धीन्द्रिय का अविषय है। इसी से इसका पारमार्थिक स्वरूप सहजरूप में हृदयङ्गम नहीं होता है तथा महागुह्य है अर्थात् समस्त स्थावर-जङ्गात्मक पदार्थवर्ग में संव्याप्त है। जब कि अत्यन्त गुह्य होता हुआ भी यह परतत्त्व योगी पुरुष के लिये सद्गुरु कृपा से सहजतया संविदित हो जाता है। इससे उस अनुत्तरीय अविमुक्तस्वरूप त्रिकवस्तु का मुझ जिज्ञासु के प्रति उपदेश कीजिये।

हे द्योतनरूपे, सर्वप्रकाशने देवि! तुम्हारा भाग्य महान् है। जिससे कि चैतन्यस्वरूप चिदानन्दमय परमशिव का भागरूप से अर्थात् अंशरूप से भी तुम्हारा अर्धनारीश्वर स्वरूप है। अत एव हे महाभागे! उत्तर—अति समीपवर्ती जो अनुत्तर (अर्थात् अनाश्रित परमतत्त्व) पूर्वोक्त प्रकार से अनुत्तर आत्म्यस्वरूप बोधनीय है, इस प्रकार कार्यकारण का अभेद है। यहाँ 'उत्तरस्य' इसमें षष्ठी विभक्ति अनादर में प्रयुक्त है, जिसमें कि उत्तर का जो स्वरूप है, वह अनादृत होता हुआ भी अनुत्तर वस्तुस्वरूप को ही प्रकाशित करता है। यद्यपि 'पुरुष का वस्त्र है' इस प्रकार से उच्चारण करने पर उन दोनों में भेदगत प्रतीति होती है। इस प्रकार प्रकृत में भी किसी पुरुष के लिये उत्तर एवं अनुत्तर का भेदात्मक भ्रम हो सकता है, उस भ्रम की निवृत्ति के लिये षष्ठी का अनादरार्थ में प्रयोग किया गया है। जैसे 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इसमें पुरुष में षष्ठीविभक्ति अनादर अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी पुरुष एवं चैतन्य का अभेद ज्ञान ही प्रतीत होता है। यह विधि कौलिक शक्ति सम्बन्धी समझना चाहिये।

हे देवि! यह कौलिक-सृष्टिप्रसर विधि है और वह पूर्व में अप्रकाशित मेरे हृदयधाम में गुप्तरूप से अवस्थित रहा। हे सभी सुर एवं असुर के परमेश्वरि! यह अनुभव में आ जाने से तत्क्षण ही कौलिकसिद्धि प्रदान करता है, उसे मैं सम्प्रति तुम्हारे अभिमुख प्रकाशित करता हूँ, उसमें तुम संशय मत करना॥३-४॥

अथाद्यास्तिथयः सर्वे स्वरा बिन्द्वसानगाः।
तदन्तः कालयोगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ ॥ ५ ॥
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु।
क्रमात्कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥ ६ ॥
वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम्।
तदूर्ध्वं शादिविख्यातं पुरस्ताद्ब्रह्मपञ्चकम् ॥ ७ ॥

पूर्व में भगवान् परभैरव द्वारा स्वकीय हृदयाकाश में तादात्म्यभाव से स्थित कौलिक विधि का वर्णन किया गया है। सम्प्रति उस परभैरवीय हृदयधाम में स्थित स्वच्छदर्पणगत प्रतिबिम्बतया विद्यमान कौलिकपद की प्रविविक्ति के लिये ग्रन्थान्तर का अवतरण किया जाता है कि—अविनाशी अनुत्तरभावाश्रित 'अ-कला' परमार्थतः सृष्टिरूपिणी है। अनुत्तर 'अ' अक्षर से आरम्भ कर 'बिन्दु' अर्थात् 'अं' अक्षरपर्यन्त सभी तिथियाँ अर्थात् पंचदश स्वर, अन्तःप्रवेशात्मक प्रसर के द्योतक हैं। अतः 'अः' अक्षर की बिन्दीद्वय में से उर्ध्वभागस्थ बिन्दी में कालकलनागत आध्यात्मिक योग की परिचायका एवं प्रवेशात्मिका क्रिया-शक्ति के स्पन्दन की सूचिका चन्द्रकला है और अधोभागस्थ बिन्दी में उसी कालकलनागत परिचायका एवं निर्गमात्मिका क्रिया-शक्ति के स्पन्दन की सूचिका सूर्यकला है। इस प्रकार 'अ' अक्षर से लेकर 'अः' अक्षरपर्यन्त समस्त वर्णसृष्टि की विद्यमानता वस्तुतः अकुल अनाश्रिततत्त्व के स्वरूप में ही जानना चाहिये ॥५॥

हे सुष्ठु व्रतधारिणि शिवे! स्थूलपृथिवीतत्त्व से आरम्भ कर पुरुष-तत्त्वपर्यन्त पञ्चविंशति तत्त्वसमूह क्रमशः मकारपर्यन्त, ककार आदि पञ्चवर्गों में रहता है। जैसा कि ककार से लेकर ङकारपर्यन्त पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-आकाश आदि भूनपञ्चक है। चकार से आरम्भ कर ञकारपर्यन्त गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द आदि तन्मात्र पञ्चक है। टकार से आरम्भ कर णकार पर्यन्त पाद-पाणि-पायु-उपस्थ-वाक्तत्त्व आदि कर्मेन्द्रिय पञ्चक है। तकार से आरम्भ कर नकारपर्यन्त घ्राण-रसना-त्वक्-नेत्र-श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक है। पकार से आरम्भ कर मकारपर्यन्त मन-अहंकार-बुद्धि-प्रकृति-पुरुषरूप पञ्चतत्त्वसमूह रहता है। भाव यह है कि 'क' अक्षर से लेकर 'म' अक्षरपर्यन्त पञ्चवर्ग के अक्षरसमूह में, अक्रमता में भी क्रमशः पृथिवीतत्त्व से लेकर पुरुषतत्त्व तक के पचीस तत्त्वसमूह के रूप में सारा बाह्यदृश्यवर्ग प्रसार भरा पड़ा है ॥६॥

वायु, वह्नि, जल, इन्द्र शब्द के वाच्य यकार से लेकर वकारपर्यन्त इस अन्तस्थ अक्षरसमूह में क्रमशः राग-विद्या-कला-मायारूपी तत्त्वसमूह वर्तमान रहता है। इन यकारादि वकारान्त वर्णों को राग-नियतितत्त्व, विद्यातत्त्व,

अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता।
सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि ॥ ८ ॥
इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा।
चतुर्दशयुतं भद्रे तिथीशान्तसमन्वितम् ॥ ९ ॥

कला-कालतत्त्व, मायातत्त्व जिससे कि धारण करते हैं, इससे वायु आदि धारण शब्द से कहे जाते हैं, उनके ऊर आरोहक्रम से शकार से आरम्भ कर क्षकार-पर्यन्त जो महामाया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव एवं शक्ति नामक पञ्चतत्त्व समूह है, वह विद्यमान रहता है। जो मायात्मक तत्त्व है, उसके ऊर्ध्ववर्ती विद्यातत्त्व रहता और उसके अधोभाग में स्वयं अन्य तत्त्व स्थित है, जिसमें विज्ञानाकलों की अवस्थिति रहती है। अतः इस विषय में कहा गया है कि—'मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः।' पुरस्तात् ब्रह्मपञ्चक का अर्थ 'बृहत्वात् बृंहणत्वात् वा ब्रह्म' इस व्युत्पत्तिबल से प्राप्त सर्वव्यापक स्वरूप जो शिवात्मक है, उसका पूरक विद्यादि प्रदर्शित तत्त्वपञ्चक है ॥ ७ ॥

हे यशस्विनि ! चित्स्वरूपिणि ! जो सृष्टि कही गयी है, वह अमूला-अकारसमवायिकारणका अनुत्तरात्मिका है अर्थात् अकार से लेकर क्षकारपर्यन्त वर्णसृष्टि मातृकाचक्र के क्रम से उत्पन्न होती है। अकार का सर्ववर्णरूपता के विषय में श्रुति वाक्य का प्रमाण भी प्राप्त होता है कि—'अकारो वै सर्वावाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वीर्नानारूपा भवति'। तथा गीता में—'अक्षराणा-मकारोऽस्मि।' इस प्रकार अनुत्तररूपिणी अमूला शब्द से सृष्टि का अनादित्व ध्वनित होता है। ऐसा समझना चाहिए एवं भली प्रकार से सभी आगमतन्त्रों में इस 'आदि-क्षान्तात्मिका' वर्णसृष्टि का सभी मन्त्रों और विद्याओं की योनि-उत्पत्ति के कारणरूप में निरूपण हुआ है।

अत्र यद्यपि अनुत्तरवस्तुतत्त्व कोई भिन्न तत्त्व नहीं हैं। यदि उसका भिन्नत्व माना जाय, तो भी वह उत्तर ही होगा तथापि पूर्वकथित स्वातन्त्र्य से कल्पित उपदेश्य एवं उपदेशकभावगत आशय लेकर यह व्यवस्था है ऐसा प्रतिपादन किया गया है। सम्प्रति विस्तार के साथ अनुत्तरतत्त्वस्वरूप के निरूपण के लिये आरम्भ किया जा रहा है कि—हे शिवे सुश्रोणि ! चतुर्दश-संख्यात्मक स्वरसमूह से परिपूर्ण अनुत्तरानन्द से संयुक्त क्रियाशक्त्यादि सम्पत्ति द्वारा आभ्यन्तर प्रलीन इच्छा और ज्ञान से सम्बन्धित अर्थात् निरन्तर एकीभूत अद्वैतरूप जो सदाशिवात्मक तृतीय वस्तु ब्रह्म है, वह सर्वव्यापक ब्रह्मतत्त्व ग्राह्यग्रामविलक्षण सदात्मक परतत्त्व है। यही तिथीश पञ्चदश स्वरों के जो

तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि हृदयं भैरवात्मनः ।
एतन्नायोगिनीजातो नारुद्रो लभते स्फुटम् ॥ १० ॥

हृदयं देवदेवस्य सद्यो योगविमुक्तिदम् ।
अस्योच्चारे कृते सम्यङ्मन्त्रमुद्रागणो महान् ॥ ११ ॥

सद्यस्तन्मुखतामेति स्वदेहावेशलक्षणम् ।
मुहूर्तं स्मरते यस्तु चुम्बकेवाभिमुद्रितः ॥ १२ ॥'

अन्तिम अवस्थितिभूत विसर्ग है, उसी में अभिन्नरूप से संयुक्त-विश्रान्त होकर भगवान् विज्ञानभैरव का शब्दसमूह विश्वशरीरात्मक शिव हृदय-सारभूत तत्त्व है। जैसा कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में उत्पलदेव पादाचार्य ने कहा है—'सा स्फुरत्ता महासत्ता'''हृदयस्य परयेछिनः ।' इस प्रकार भगवान् भैरव द्वारा इसी अमृत बीजरूप हृदय का अपरोक्षरूप से साक्षात्कार कर लेता है। वह योगी स्वकीय पाक्तन पशुभाव का परित्याग कर मोक्षभाव को प्राप्त कर लेता है। अकारादिसम्बन्धिनी विसर्गशक्ति से आविर्भूत प्रमाता के पाशों का जो रोधक और द्रावक है, वही पुरुषस्वरूप को पा लेता है। रुद्र और न तो अयोगिनी गर्भ से उत्पन्न होनेवाला ही होता है। इस स्थिति में परभैरव के साथ तादात्म्य प्राप्त करना ही मोक्ष है, इस प्रकार का मोक्ष ही देवाधिदेव के बीजभूत हृदय को देता है और ऐसी हृदयता ही भैरवरूपता होती है ॥८-९-१०॥

पश्यन्तीरूपा वाणी का विमर्शभावपूर्वक उच्चारण करने पर इस संवित्तत्त्व की महिमा दिखलाते हैं कि—इस अहंलक्षण वाले अक्षर महामन्त्र का निरन्तर उस-उस देवता के अनुसंधान से उच्चारण अर्थात् अमृतबीजभूत विमर्शरूप संवित् का सम्यग्रूप से अपरोक्षतया साक्षात्कार अर्थात् देहादिविषय में मिथ्या अहंभाव का विस्मरणपूर्वक समाहितभाव से शैवसिद्धान्तानुसार आत्म-दर्शन करने पर महान् सिद्धमन्त्रों और शैवीमुद्राओं का समूह तत्काल विमर्शक्षण में ही उस योगी के सम्मुख उपस्थित हो जाता है, कैसे प्रकट हो जाते हैं? योगी के अपने देह के आन्तर भाग में साक्षात् स्वरूप से ही अनुप्रविष्ट हो जाने के रूप में सम्मुख प्रकट हो जाता है अर्थात् मन्त्रमुद्रा और मन्त्रदेवता की परस्पर प्रमातामयी एकाकारता हो जाती है ॥ ११ ॥

सम्प्रति समाधि में समयोग से प्रभाव दिखलाया जा रहा है कि—जो योगवेत्ता पुरुष चुम्बक-शास्त्रस्पर्श से अभिमुद्रित अर्थात् चिदात्मभाव में मन्त्रमुग्धवत् तन्मय होकर केवल मुहूर्त अर्थात् दो घटिका कालपर्यन्त निरन्तर अहंस्वरूप का स्मरण-परामर्शन करता है, वही पुरुष मन्त्रमुद्रागण और देवतागण

स बद्धनाति तदा सर्वं मन्त्रमुद्रागणं नरः ।
अतीतानागतानर्थान् पृष्टोऽसौ कथयत्यपि ॥ १३ ॥
प्रहराद्यदभिप्रेतं देवतारूपमुच्चरन् ।
साक्षात्पश्यत्यसंदिग्धमाकृष्टं रुद्रशक्तिभिः ॥ १४ ॥
प्रहरद्वयमात्रेण व्योमस्थो जायते स्मरन् ।
त्रयेण मातरः सर्वा योगीश्वर्यो महाबलाः ॥ १५ ॥
वीरा वीरेश्वराः सिद्धा बलवाञ्छाकिनीगणः ।
आगत्य समयं दत्त्वा भैरवेण प्रचोदिताः ॥ १६ ॥
यच्छन्ति परमां सिद्धिं फलं यद्वा समीहितम् ।
अनेन सिद्धाः सेत्स्यन्ति साधयन्ति च मन्त्रिणः ॥ १७ ॥

का उस काल में ही स्व-स्वामिभाव से साक्षात्कार कर लेता है, वही योगी समाधिदशा से व्युत्थानकाल में किसी भी स्वकीय या परकीय जगत् का शुभाशुभ पूछने पर अतीत, अद्यतन एवं अनागत कालसम्बन्धी व्यवहित अर्थ-प्रयोजनों को बता देता है और उसकी वाणी व्यभिचरित नहीं होती है ॥१२-१३॥

यदि प्रहरमात्र निरन्तर चिदानन्दतत्त्व का अनुसंधान करता हुआ स्वस्वरूपभूत समाधिदशा में स्थित रहने वाला योगी जिस-जिस अभीष्ट देवता का साक्षात्कार-दर्शन करना चाहता है, उस-उस देवता को रुद्रशक्तिसमूह अर्थात् परेशशक्तिसमूह द्वारा आकृष्ट होकर निःसन्देह ही प्रत्यक्ष देख लेता है ॥१४॥

प्रहरत्रयपर्यन्त स्वरूपसमावेशदशा में अवस्थित रहनेवाले योगी चिदाकाश में अचल प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार साधनाभ्यास क्रमानुसार प्रहरत्रयपर्यन्त समाधि में स्थिर रहने वाले अभ्यस्त योगी पुरुष के समीप ब्राह्मयादि अष्ट मातृका-शक्तिसमूह, महाबलसम्पन्ना योगेश्वरियाँ, वीर-योगी लोग, वीरेश्वर-योगीन्द्रगण, कपिलादि सिद्धगण और बलिष्ठा शाकिनीगण-योगिनी-संघ अर्थात् अघोरा, घोरा एवं घोरतरी शक्तियों का दल साक्षात् सम्मुख होकर, भगवान् परभैरवनाथ की प्रेरणा पा कर उस योगी को मर्यादापूर्वक समय से वादा दे कर सर्वोत्कृष्ट फल देनेवाली सिद्धि या मनोऽनुकूल अभिलषित वस्तु दे देती है ॥१४-१६॥

मन्त्रज्ञ लोग वर्तमान जीवनकाल में शैवसाधन का अनुष्ठान कर रहे हैं, अतीतकाल में साधनानुष्ठान द्वारा सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं और अनागतकाल में शैवसाधनानुष्ठानबल से सिद्धि प्राप्त करेंगे तथा जो लोग त्रिकाचार से भिन्न अन्य शास्त्रों के मन्त्रों का अभ्यास द्वारा वर्णित प्रकार से सिद्ध हो चुके हैं या

यत्किंचिद्भैरवे तन्त्रे सर्वमस्मात्प्रसिद्ध्यति ।
अदृष्टमण्डलोऽप्येवं ... ... ॥ १८ ॥

यः कश्चिद्वेत्ति तत्त्वतः ।
स सिद्धिभाग्भवेन्नित्यं स योगी स च दीक्षितः ॥ १९ ॥
अनेन ज्ञानमात्रेण ज्ञायते सर्वशक्तिभिः ।
शाकिनीकुलसामान्यो भवेद्योगं विनापि हि ॥ २० ॥

उन मन्त्रविषयक साधना में संलग्न है, वस्तुतः वे लोग भी हृदयबीज के परामर्श से ही पारमार्थिक सिद्धि प्राप्त करने में सफल हो जायेंगे ॥१७॥

भैरवतन्त्र में जिन-जिन प्रकार की सिद्धियों का वर्णन आया है, वे समस्त सिद्धियाँ इसी त्रिकाचारानुसार अभ्यास करने वाले योगी को प्राप्त हो जाती हैं। यह हृदयबीज मायीय अण्डान्तर्गत व्याप्त रहने वाली सारी भेदप्रथा की निवृत्ति कर देता है तथा सभी वस्तु-पदार्थ एवं अवस्थाओं का सारभूत हृदय-प्रतिष्ठा है, इसी कारण शक्ति आदि चतुर्विध अण्डान्तर्गत संव्याप्त भेदभाव सम्बन्धिनी संकीर्णता को स्वच्छन्दतया स्वीकार कर उसी स्वरूप में अवस्थित रहता है ॥१८॥

जो कोई व्यक्ति इस प्रकार वर्णाश्रमविभाग अधिकारी से व्यतिरिक्त हुआ तत्त्वतः देहादि के मिथ्या अहंभाव से विमुक्त होकर उक्त प्रकार से महा-मन्त्र को जानता है, वह यदि गोलाकाररूप मण्डल का दर्शन नहीं भी कर पाया है अर्थात् तांत्रिक योगक्रिया के साथ संयुक्त चर्या-क्रम शाक्त उपाय निशाटन एवं तीर्थस्थानों में परिभ्रमण-आणव उपाय और हठप्रक्रिया आदि क्रम से अभ्यास करने से मण्डल-देवियों के संघ से एकता नहीं प्राप्त करता है या स्वशरीर में विद्यमान प्रधान नाडीचक्र समूह कि वा आवान्तर चक्रसमूह का, योगक्रिया द्वारा साक्षात्कार नहीं करता है, तो भी उसे पूर्वोक्त सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं, इसलिये कि भगवान् विज्ञानभैरवनाथ की कृपा से निश्चित ही योगी और दीक्षित हो जाता है ॥१९॥

सर्वज्ञ योगवेत्ता पुरुष को स्वकीय अन्तःकरणगत वृत्तिसमूह और इन्द्रिय-शक्तिसंघ द्वारा भी उस अमृतबीज के विषय में पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है, किन्तु इस का भली प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में इनके द्वारा उन्हें कोई भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह तो हृदयबीज की पूर्वज्ञातृता से संभावित है। जब कि योगाभ्यस्त पुरुष परमशिव में विलीन नहीं हुए बिना भी उक्त हृदयबीज का एकाएक दर्शन प्राप्त करने मात्र से ही विशेषस्पन्दमयी शाकिनीशक्तियों के समूह का मौलिक सामान्य स्पन्दात्मकदशा में समाहित हो जाता है ॥२०॥

अविधिज्ञो विधानज्ञो जायते यजनं प्रति ॥ २१ ॥
कालाग्निमादितः कृत्वा मायान्तं ब्रह्मदेहगम् ।
शिवो विश्वाद्यनन्तान्तः परं शक्तित्रयं मतम् ॥ २२ ॥

वैदिक विधि-विधानों का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति भी यथाशक्ति प्रत्येक विधि का ज्ञान स्वयमेव अपने में हृदयबीज के प्रभाव से पा लेता है। भाव यह है कि यहाँ पर 'विधि' पद क्रिया और ज्ञान का वाचक है, जिस व्यक्ति में उन दोनों में से एक भी न हो, वह पशु कहलाता है। जैसा कि किरण-शास्त्र में कहा गया है—

'पशुर्नित्यो ह्यमूर्तोऽज्ञो निष्क्रियो निर्गुणोऽप्रभुः ।
व्यापी मायोदरान्तस्थो भोगोपायविचिन्तकः ॥'

अर्थात् 'वह पशु-जीवात्मा सदा अमूर्त, अज्ञ, क्रियाशून्य, गुणरहित, आत्मबलहीन, सर्वव्यापी माया-शक्तिगत उदर स्थित-जन्ममरणाधीन विषयजन्य सुख की चिन्ता करने वाला होता है।' ऐसा पशुकोटि का प्राणी इस अमृतबीज का दर्शन कर लेने मात्र से ही विधिविषयक व्यवस्था का ज्ञाता और कर्ता बन जाता है। यदि वह अनभिज्ञ भी है, तो भी उसमें पूर्णता प्राप्त हो जाती है, इसलिये कि हृदयबीज की सत्ता सार्वभौम एवं सर्वात्मक है ॥२१॥

सम्प्रति सर्वात्मक हृदयबीज के विषय में कहा जा रहा है कि—कालाग्नि-पृथिवीतत्त्व से लेकर मायातत्त्वपर्यन्त एकतीस तत्त्व, ब्रह्मदेह अर्थात् 'सकार' में सम्मिलित हैं। ('ॐ तत्सत्' इस अखण्डार्थक वाक्यस्थ तृतीय सकारात्मक ब्रह्मतत्त्व है। त्रिकमतानुसार 'श, ष, स, ह, क्ष' इन पञ्च अक्षर ब्रह्म में तृतीय स्थान 'सकार' ब्रह्म का है।) शिव-अनाश्रित शक्ति के सहित अर्थात् शिव-शक्ति संघट्ट या इन तत्त्वद्वय की समरसता, अनन्तः अर्थात् अकार के अन्त से संयुक्त विसर्ग में स्थित है। 'परं' अर्थात् अवशिष्ट 'औकार' में 'विश्वभुवन' अर्थात् विद्यातत्त्व से आरम्भ कर सदाशिवतत्त्वपर्यन्त के तत्त्वत्रय-सम्बन्धी रूपवाला 'शक्तित्रय' अर्थात् इच्छात्मक सदाशिव, ज्ञानात्मक ईश्वर और क्रियात्मक शुद्धविद्या यह शक्तित्रिशूल सन्निविष्ट है; इस शक्तित्रिशूल को ही विसर्गमय या सृष्टिप्रसरात्मक माना जाता है। अत एव कुलतत्त्व-षट्त्रिंशतत्त्व सन्दोहरूप हृदयबीज सर्वात्मक है। इस विषय में कहा गया है कि—

'सार्धेन त्रितयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।
सर्वातीतं विसर्गेण पराव्याप्तिरुदाहृता ॥' इत्यादि ॥२२॥

तदन्तर्गीतं यत्किंचित् शुद्धमार्गे व्यवस्थितम् ।
अणुर्विशुद्धमचिरादैश्वरं ज्ञानमश्नुते ॥ २३ ॥
तच्चोदकः शिवो ज्ञेयः सर्वज्ञः परमेश्वरः ।
सर्वगो निर्मलः स्वच्छस्तृप्तः स्वायतनः शुचिः ॥ २४ ॥

जो कुछ स्थावर-जङ्गमरूप परिदृश्यमान विश्वप्रपञ्च विचित्र अर्थात् भेदाभेद और भेदगत अतीव अद्भुत प्रतिबिम्बरूपी दशा में विद्यमान है, वह समस्त दृश्यप्रपञ्च हृदयबीजभूत सर्वात्मक अवस्था में सन्निविष्ट है और उसके अन्तवर्ती शुद्धमार्ग में अर्थात् मलातीत विशुद्ध परमेश्वरीय ज्ञानमार्ग में व्यवस्थित है। परिमितभाव में निमग्न हुआ अणु-जीव अमृतबीज का अपरोक्षतया साक्षात्कार कर लेने मात्र से तत्क्षण ही परमेश्वरीय निर्मल अवबोध प्राप्त कर लेता है ॥२३॥

उस विशुद्ध ज्ञानमार्ग का चोदक अर्थात् प्रेरक गुरु साक्षात् शिव है। अनुग्रहभाजन कोई ही योगवेत्ता पुरुष के प्रति प्रयोजक शिवकला अधिष्ठाता समझना चाहिये, जिस से वही सर्वज्ञ है। जैसा कि कहा गया है— 'एको भाव-स्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः।' अर्थात् वस्तुतः जिस ने एक अद्वैततत्त्व देख लिया है, उसी ने सारे वस्तु-पदार्थों को बड़ी गहनता से देखा है। इस प्रकार परमेश्वर शिव अदेय वस्तु भी देने में सक्षम है। सर्वज्ञ-सर्वत्र गतिशील ब्रह्मस्वरूप। निर्मल-मायीयमलरहित, स्वच्छ-आणवमलशून्य। तृप्त-कार्ममलरहित निराकांक्ष। स्वायतन-चिदात्मा में प्रतिष्ठित। शुचि-वासनारहित पवित्र। ऐसा दूसरा देव कोई भी नहीं है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में मायीय-आणव-कार्ममल सम्बन्धी वर्णन उत्पलदेवपादाचार्य द्वारा हुआ है कि—

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥
भिन्न वेद्यप्रथात्रैव मायारूपं जन्मभोगदम् ।
कर्तृयबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम् ॥३-२-४॥

भाव यह है कि जो पुरुष उस हृदयबीज के दर्शन को प्रेरणा प्रदान करने वाला है; उसे साक्षात् ही शिव समझना चाहिये, इसलिये कि परमशिव स्वयमेव उस हृदयबीज के गहन रहस्य को जानने की सत्प्रेरणा के दाता हैं तथा अज्ञेय और स्वयं सर्वज्ञ है। निर्दोष, नित्यतृप्त, सर्वव्यापक संवित्स्वरूप में सारी प्रमेयराशि सृष्टि-प्रसररूप में विद्यमान रहती है ॥२४॥

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥ २५ ॥
एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी ।
दीक्षा भवत्यसंदिग्धा तिलाज्याहुतिवर्जिता ॥ २६ ॥
मूर्ध्नि वक्त्रे च हृदये गुह्ये मूर्तौ तथैव च ।
न्यासं कृत्वा शिखां बद्धा सप्तविंशतिमन्त्रिताम्॥ २७ ॥
एकैकं तु दिशां बन्धं दशानामपि योजयेत् ।
तालत्रयं पुरा दत्त्वा सशब्दं विघ्नशान्तये ॥ २८ ॥

अच्छा तो, संकीर्णस्वभाव वाला अणु-जीवात्मा के लिये पूर्णव्यापक परमेश्वरीय ज्ञान संपादन करना अतिदुर्घट प्रतीत होता है। जैसे छोटा-सा जलबिन्दु समुद्रत्व की प्राप्ति कर लेता हो ? अतः दृष्टान्त द्वारा उसे समझाया जाता है कि—जैसे वटवृक्ष के बीज में, उस वृक्ष से सम्बन्धित अंकुर, शाखाएँ पत्ते और फल, अतिलघुकलेवर के उस बीज के रूप में ही विद्यमान हैं, वैसे ही हृदयबीज में यह सारा जडचेतनरूप विश्व—जो कि विमर्शात्मिका महासत्ता का ही साकार रूप है—हृदय के रूप में ही विद्यमान है। इसलिये इसमें कुछ भी असमंजस नहीं है ॥२५॥

इस प्रकार तत्त्व से अर्थात् देहादिकों में से मिथ्या अहंकार का परित्याग कर चिदात्मा में अवस्थित हुआ जो योगवेत्ता पुरुष स्वस्वरूप को जानता है, उसका नाम दीक्षा है। जैसा कि—

'ददाति ज्ञानसद्भावं क्षपयत्यखिलं मलम् ।
बोधानुवेधात् दीक्षोक्ता दानक्षपणधर्मिणी ॥'

इस प्रकार दीक्षा शिवज्ञान को देती है और समस्त मल की निवृत्ति कर देती है। योगी को निर्वाणपदवी पर आरूढ़ करा देनेवाली दीक्षा, तिल एवं घृतादि हवनीय सामग्री की आहुतियाँ अग्निकुण्ड में डाले बिना ही निःसन्देह संवित्शक्ति से सम्पन्न हुई होती है ॥२६॥

इस प्रकार आन्तरिक सूक्ष्मा पूजा को कह कर सम्प्रति केवल बाह्यपूजा-सम्बन्धी भी वर्णन किया जा रहा है कि—

ॐ ईशानमूर्ध्ने नमः, तत्पुरुषवक्त्राय नमः, अघोरहृदयाय नमः, वामदेव गुह्याय नमः और सद्योजातमूर्तये नमः, इस प्रकार से मन्त्र द्वारा न्यास कर और अघोरमन्त्र से सत्ताईस मन्त्रों द्वारा शिखा को बाँध कर एक सौ मन्त्र द्वारा प्रत्येक दिशाओं पर पृथक् पृथक् बन्धन देना चाहिये। जैसा कि सौ इन्द्रदिशाबन्धनं करोमि नमः इस प्रकार से अग्नि, यम, नैर्ऋत्य, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ऊर्ध्व और अधोदिशाओं का क्रमशः

शिखासंख्याभिजप्तेन तोयेनाभ्युक्षयेत्ततः ।
पुष्पादिकं क्रमात्सर्वं लिङ्गे वा स्थण्डिलेऽथ वा ॥ २९ ॥
चतुर्दशाभिजप्तेन पुष्पेणासनकल्पना ।
तत्र सृष्टिं यजेद्वीरः पुनरेवासनं ततः ॥ ३० ॥
सृष्टिं तु संपुटीकृत्य पश्चाद्यजनमारभेत् ।
सर्वतत्त्वसुसंपूर्णां सर्वाभरणभूषिताम् ॥ ३१ ॥

दिग्बन्धन करे। 'भूताः प्रेताः पिशाचाश्च राक्षसाश्च सरीसृपाः। अपसर्पन्तु ते सर्वे दिव्या अस्त्रेण साद्रिताः। इस मन्त्र से दिग्बन्धन करें। इससे पूर्व विघ्न विनाश के लिये केवल मध्यमा-वाणी द्वारा क्रमशः स्-औ-अः इन तीन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए स् से प्रथम ताली, औ से द्वितीय ताली और अः से तृतीय ताली बजाये ॥ २७ २८॥

इस के पश्चात् सत्ताईस मन्त्रों द्वारा सुसंस्कृत जल से क्रमशः अभिषेक, गन्ध इत्यादि पूजनसामग्री द्रव्यों से अभ्युक्षण करें अर्थात् कुशा के विष्टर द्वारा संस्कृत जल के छींटे दें। अभिषेकपात्र में जल रख कर सर्वप्रथम उस पात्र का मन्त्रों द्वारा अभिषेक करें। पुनः उस जल द्वारा पूजनोपयोगी द्रव्यों का भी भिन्न-भिन्न इन्हीं सत्ताईस मन्त्रों से अभ्युक्षण करें। अभिषेकं करोमि नमः, गन्धं समर्पयामि नमः इस प्रकार क्रमशः तिलक, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, पानपत्र, इत्र, निराजन, द्रव्यदक्षिणा, प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि में भी क्रियाएँ जोड़ कर यह सारा पूजनक्रम वीरस्थण्डिल-स्त्रीगुह्यांग या योगिनी लिंग पर करें ॥२९॥

अं लेकर औं पर्यन्त चतुर्दशस्वर मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित पुष्पों से आसन को समर्पित करें। 'अं' आसनं शोधयामि नमः इत्यादि रूपों से और उस आसन पर वीर-योगीन्द्र सृष्टिबीज की पूजा करें और अनन्तर पुनः एक बार उक्त विधि से नूतन आसन को समर्पित करें ॥३०॥

अब भक्तिभाव पूर्वक आन्तरिक पूजा का विधान प्रदर्शित करते हैं कि— अकारादि से लेकार हकारपर्यन्त सृष्टिबीज का संपुटीकरण कर, इस के पश्चात् आन्तरिक परापूजारूप यजन करें अर्थात् वर्णसृष्टि का संपुटीकरण कर अहंरूप इस से चित्तत्त्व में प्रतिष्ठित होकर पुनः आभ्यन्तरीय पूजा प्रारम्भ करना चाहिये। आत्मगत आमर्शन ही आन्तरिक पूजा है। भगवती परा-शक्ति सभी षट्त्रिंशत्तत्त्व से परिपूर्ण है; इसलिये कि अपने चिद्रूप में सारा तत्त्वसमूह अभिन्नरूप से स्थित है। सभी अलङ्कारों से अलंकृता-विभूषिता महेश्वरी महादेवी का (अवोरमन्त्र) सत्ताईस मन्त्रसमूह द्वारा हृदयगत उत्तमभाव-भक्ति श्रद्धा के साथ आदरपूर्वक पूजन करें और उत्तम गंधपुष्पादिरूप षोडश उपचार सामग्री से यथाशक्ति आत्मस्वरूपा चिति को समर्पण करते हुए स्वयं को भी सर्वात्मीभाव

यजेददेवीं महेशानीं सप्तविंशतिमन्त्रिताम् ।
ततः सुगन्धिपुष्पैस्तु यथाशक्त्या समर्चयेत् ॥ ३२ ॥
पूजयेत्परया भक्त्या आत्मानं च निवेदयेत् ।
एवं यजनमाख्यातमग्निकार्येऽप्ययं विधिः ॥ ३३ ॥
कृतपूजाविधिः सम्यक्स्मरन्बीजं प्रसिद्ध्यति ।
आद्यन्तरहितं बीजं विकसत्तिथिमध्यगम् ।
हृत्पद्मान्तर्गतं ध्यायेत्सोमांशं नित्यमभ्यसेत् ॥३४ ॥
यान्यान्कामयते कामांस्तांस्ताञ्छीघ्रमवाप्नुयात् ।
अस्मात्प्रत्यक्षतामेति सर्वज्ञत्वं न संशयः ॥ ३५ ॥
एवं मन्त्रफलावाप्तिरित्येतद्रुद्रयामलम् ।
एतदभ्यासतः सिद्धिः सर्वज्ञत्वमवाप्यते ॥ ३६ ॥

से उसी को समर्पित कर देना चाहिये। इस प्रकार द्विप्रकार से यजन-पूजन कह दिया गया है। इस से सम्बन्धित अग्निकार्य होमादि में भी यह विधि है ॥३१-३२-३३॥

उक्त पूजनविधि से उपासना करने पर साधक पुरुष को कौन-सा फल प्राप्त होता है ? इस के समाधान में कहते हैं कि—त्रिकाचार से भिन्न सभी शास्त्रीय पूजा को एक ओर छोड़ कर केवल परभैरवस्वरूप अमृत हृदयबीज में समाहित हुआ योगी पुरुष स्वकीय परासंविद्रूपा आनन्दशक्ति के आवेग द्वारा, स्वेच्छापूर्वक प्रमेय विश्व-प्रपञ्च की सृष्टि, स्थिति आदि का क्रीडक होकर जीवन्मुक्ति पा लेता है ॥३४॥

यह हृदयबीज स्वयंप्रकाश है और प्राणापानगति का वशवर्ती नहीं है, इसी कारण आदि-अन्तशून्य अनन्त है और सतत उदयशील है। परिदृश्यमान प्रमेय विश्वप्रपञ्च के रूप में विकासमान है, अतः यह हृदयबीज षोडश तिथियों या षोडश स्वरों के मध्य में संव्याप्त है। इस अमृतबीज का कन्द या गुह्यस्थानीय हृदयकमल में ध्यान करना चाहिये। उमा सहित सोमभट्टारक शिव के अमृतमय अंश—विसर्गकला का निरन्तर ध्यान करें ॥३५॥

इस प्रकार से अनुसन्धान करने पर क्या होता है ? इस पर कहते हैं कि जिन-जिन वस्तु-पदार्थों की इच्छा साधक करता है, वह अविलम्ब ही उन-उन पदार्थों को इस अभ्यासबल से प्राप्त कर लेता है और सर्वज्ञ हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥३६॥

इस प्रकार से मन्त्रों का फल प्राप्त हो जाता है। यह हृदयबीज ही वस्तुतः 'रुद्रयामल' अर्थात् शिव-शक्ति का सामरसमय स्वरूप है। इस में कथित वस्तु का अभ्यास करने से आत्मैश्वर्यरूपी सिद्धि और सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है।

इति सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृतत्रिकरञ्जनी-हिन्दी-व्याख्या समाप्ता

●

ॐ श्रीसच्चिदानन्ददेवाय नमः

अथ

श्रीमत्सोमानन्दपादविरचिता

श्रीपरात्रीशिकातात्पर्यदीपिका

वन्दे कुन्देन्दुनीहारवलक्षं विघ्नहारिणम् ।
हरगौरीसमारब्धं हेरम्बं हस्तिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

अकलङ्कशशाङ्काभा व्यक्ता चन्द्रकलावती ।
मुद्रापुस्तलसद्वाहा पातु वः परमा कला ॥ २ ॥

श्रीमत्कैलासकश्मीरकाशीव्याघ्रपुरीस्थितम् ।
त्रिकार्थदर्शिनं वन्दे देवं सोमांशभूषणम् ॥ ३ ॥

यैः सर्वशिष्यैराचार्यैः प्रत्यक्षपरमेश्वरैः ।
व्याख्यातं त्रीशिकाख्यं यच्छ्रीशासनमनुत्तरम् ॥ ४ ॥

तद्दर्शितदिशा तस्य पद्यैर्व्याख्योदयत्यसौ ।
तात्पर्यप्रथनार्थत्वात्तेजोरूपाः प्रमाकृतः ॥ ५ ॥

तदपेक्षात्मसद्भावाः तमःकल्पाः प्रमाभुवः ।
उपक्रान्त्यवलम्बैतदुदयात्मतयोदिताः ॥ ६ ॥

तेजस्तमोमयात्मीयसद्भावाः मानराशयः ।
यत्र सृष्टितया भान्ति लभन्ते तत्तदात्मताम् ॥ ७ ॥

हृदयत्वेन भान्त्येते त्यक्ततत्तत्प्रथाविधाः ।
तदेकरसतां याताः तदात्मत्वेन भान्त्यलम् ॥ ८ ॥

तदेतत्सततं त्यक्तपारोक्ष्यं सन्निधिं श्रयन् ।
समन्यूनाधिकत्वेन यस्य कस्याप्यभावतः ॥ ९ ॥

अनुत्तरं चिदेकात्मज्योतिर्वन्दनरूपया ।
स्तुत्याभिवादरूपात्म तदन्योन्यात्मतात्मना ॥ १० ॥

स्फुरामि तन्मयत्वेन शाश्वतेन समाविशन् ।
विश्रान्तिः पूर्णरूपेयं निबद्धैवमुपक्रमे ॥ ११ ॥

विश्रान्तयोंशगास्त्वन्ते निभेत्स्यन्ते कृताविह ।
शासनैर्मालिनीसिद्धाप्रमुखैः शासिता शिवः ॥ १२ ॥

मन्दमध्यमरूपाणामौचित्येनाधिकारिणाम् ।
अप्रबुद्धमतीनां हि एता बालविभीषिकाः ॥ १३ ॥

मातृमोदकवत्सर्वं प्रवृत्त्यर्थंमुदाहृतम् ।
इति विज्ञानचिन्नाथप्रतिपादितया दिशा ॥ १४ ॥

उत्तरोत्तरतत्तादृग्भूमिकारोहहेतवे ।
अतिविस्तृततत्तादृग्दीक्षाचर्यादिडम्बरैः ॥ १५ ॥

त्रिकं प्रकाशयामास नरशक्तिशिवात्मकम् ।
अपरादिमयत्वेन प्रस्तुतेनागमेन तु ॥ १६ ॥

अनुत्तरेण तन्मातृमानमेयात्मकं त्रिकम् ।
अनुत्तरं स्वकीयं तद्धृदयं विश्वतत्परम् ॥ १७ ॥

श्रीमदुत्पलदेवीयं शास्त्रं स्तोत्रपदात्मकम् ।
प्रत्यभिज्ञानमात्रोद्यद्भैरवीभाववैभवम् ॥ १८ ॥

कथयामि न सन्देहः सद्यः कौलिकसिद्धिदम् ।
हृदयं देवदेवस्य सद्यो योगविमोक्षदम ॥ १९ ॥

अदृष्टमण्डलोऽप्येवं तिलाज्याहुतिवर्जितम् ।
इत्येवमादिरूपेण मुने श्रेष्ठकमात्मनः ॥ २० ॥

प्रकाशयति तद्व्याख्या निर्माणाप्येष तस्य ये ।
प्रसंहप्राविकान्योक्ततत्तदीक्षाभिविस्तराम् ॥ २१ ॥

व्याख्यां वितेनिरे तेषामपहाय दृशिस्थितिम् ।
श्रीमदुत्पलदेवीयमतसारतया परम् ॥ २२ ॥

व्याख्यां करोति विशदामेवं मेयादिकं त्रिकम् ।
विमर्शसारमेवेह सिद्ध्युपायतया मतम् ॥ २३ ॥

अभिधेयतया तस्य विषयत्वेन दर्शितम् ।
शेषद्वयम्,
अनवच्छिन्ननानात्ममाहेश्वरविमर्शताम् ॥ २४ ॥

अवाप्तं शासनमिदमनिदं धीपदोदयम् ।
तथाविधेन भावेन सदाहन्त्वेन सिद्धिमत् ॥ २५ ॥

'प्रकाशामर्शरूपत्वादत एव ह्यनुत्तरम् ।
अनुत्तरस्य देवस्य हृदयं स्वोल्लसत्तया ॥ २६ ॥

प्रत्नतत्प्रतिबोधैतदुपसंहाररूपया ।
स्वातंत्र्यात्स्वत एवैवं स्फूर्जत्यस्यायमाशयः ॥ २७ ॥

परापरविभूत्याप्तिरूपो मन्त्रतयोद्यताम् ।
विद्यात्मनां विमर्शानामित्यन्तस्यात्महृदभुवः ॥२८॥

प्रसृतस्यागमस्यैव परसंबन्धरूपता ।
देवाद्देव्या समागतं तस्यास्तारकवैरिणः ॥ २९ ॥

इत्यादिगुरुवर्यात्मक्रमावाप्तिस्वरूपकम् ।
संबन्धमनपेक्ष्यैवं स्वतन्त्रा बुध्यतामिति ॥ ३० ॥

तृतीयस्य देव्युवाचेत्युपक्रान्तस्य देवताम् ।
गतस्य भैरवेत्यादिमध्यस्यैवं फलोदयः ॥ ३१ ॥

शेषः ।

व्याख्यातृतोऽपि हृदयं व्याख्यैषा तन्मयत्वतः ।
तद्वदेव स्वसंवित्तिसमुल्लासतयोक्तया ॥ ३२ ॥

स्फूर्जत्यनुत्तरं कृत्वा न तु शिष्याद्यपेक्षया ।
एवं प्रवृत्तौ व्याख्यातुर्देवस्येच्छैव चोदिका ॥ ३३ ॥

हरिणा यत्र यच्चोक्तं सामानाधिकरण्यता ।
देवस्यानुत्तरं हृत्तत् स्फूर्जति स्वयमित्यतः ॥ ३४ ॥

'अनुत्तरं कथं देव सद्यो कौलिकसिद्धिदम् ।'
इत्युपक्रमरूपस्य प्रश्नस्यास्य विनिर्णये ॥ ३५ ॥

'हृदयं देवदेवस्य सद्यो योगविमोक्षदम् ।'
इत्युपक्रमशास्त्रस्य यावत्पूर्ति यदुच्यते ॥ ३६ ॥

---

१. प्रकाशत्वानुरूपत्वात्—इत्यपि पाठः ।

विश्वावभासकारित्वं सिद्धिद्वितयदायिका ।
हृदयस्य कथं तस्य वचनस्यात्र संगतिः ॥ ३७ ॥
भवेदिति निरासाय शंकाया अवधार्यताम् ।
संबन्धो मौलिकः सोऽयं दर्शितः फलतस्तु सः ॥ ३८ ॥
देवेनागमरूपेण स्वेनाग्रे दर्शयिष्यते ।
खेचरीसमतां येन व्रजेदित्यादिना स्फुटम् ॥ ३९ ॥
व्याचिख्यासितरूपस्य शासनस्य यदात्मना ।
व्याख्यया संविधानस्य सामान्येन कृतो विधिः ॥ ४० ॥
कस्य संग्रहतस्तावत् तात्पर्यं प्रतिपाद्यते ।
शासनस्यादिमे श्लोके सा शेषेऽनुत्तरेशितुः ॥ ४१ ॥
देवस्य··· केन स्यात् वेद्यादित्रितयात्मना ।
प्रकारेण यतो ज्ञाता संविदः पूर्णशक्तितः ॥ ४२ ॥
प्रकारेण च केनास्य सिद्धिद्वितयदायिता ।
इति प्रश्ने दर्शयित्वा वस्त्वेतं प्रस्तुतात्मकम् ॥ ४३ ॥
बोधयात्मन् प्रभावाख्या प्रबन्धेनेति वृत्तिकृत् ।
समस्तमुपचिक्षेप शास्त्रस्यार्थं द्वितीयके ॥ ४४ ॥
सेयं स्वातंत्र्यशक्त्यात्मा स्वपरामर्शविग्रहा ।
हृदि सर्वस्य भात्येव प्रक्रियेति च तं पुनः ॥ ४५ ॥
प्रश्नं शिथिलयित्वाथ प्रश्नोऽयं सिद्ध्यवाप्तये ।
सा तस्याः प्रत्यभिज्ञानलाभेन प्रक्रियात्मनः ॥ ४६ ॥
शक्तिं विना न भवतीत्येवं तदुपयोगिता ।
प्रश्नस्यास्योपपाद्याथ तृतीये शक्तिमीरिताम् ॥ ४७ ॥
प्रस्ताव्य कथनीयेति 'कौलिकोऽयं विधिर्मम' ।
हृदये हृदयत्वेन चास्तेऽसौ विदितस्तदा ॥ ४८ ॥
इति शेषेण चौचित्यं तस्य वक्तुरदर्शयत् ।
कथनं चोत्तरारम्भपूर्वावस्थाप्रदर्शनात् ॥ ४९ ॥
प्रवर्तयंश्चतुष्के तु तां परादित्रिकात्मिकाम् ।
शक्तिं पञ्चाशता वर्णैः प्रसरन्तीं प्रदर्शयन् ॥ ५० ॥

शेषेण चाप्यमूलेति ज्ञेयैषेत्येवमूचिवान् ।
अष्टमे तु तथा तस्या अविभागात्मना स्थितिः ॥ ५१ ॥

सारं प्रदर्श्य नवमे तदात्मीकारमात्रतः ।
सूचितां प्रथमे सूत्रे सिद्धिं प्रादर्शयत् पराम् ॥ ५२ ॥

अथाष्टके त्वतीतादिप्रहरौचितया विधिः ।
इति शेषत्रयोपेक्षे (ते) शासनान्तरचोदिताम् ॥ ५३ ॥

प्राणादिजयकालादि नियमात्मतयोदिताम् ।
विद्याव्रतादिरूपाञ्च मन्त्रार्पणविधोचिताम् ॥ ५४ ॥

संकुचत्तां विना संवित्परामर्शस्य संपदे ।
परा अपि प्रसिद्ध्यन्ति सिद्धयोऽस्याप्तिरेव तु ॥ ५५ ॥

एतन्मन्त्रग्रहे साध्येत्येतत् सम्यङ्न्यरूपयत् ।
चतुष्केऽथाष्टमश्लोकप्रोक्तस्य हृदयात्मनः ॥ ५६ ॥

बीजस्य विश्वाभिन्नायाः शक्तिसंपूर्त्तिलक्षणः ।
परायाः स्वात्मसंवित्तेर्विमर्शत्वं न्यरूपयत् ॥ ५७ ॥

तद्वाच्यवाचकाभेदाभ्यासतत्फललक्षणम् ।
उक्त्वा द्वाविंशके सूत्रे नवमश्लोकसूचितम् ॥ ५८ ॥

फलं प्राकट्यमनयत् उपसंहारवर्त्मना ।
अथ त्रये तदभ्यासे पूर्वभावित्वयोद्यते ॥ ५९ ॥

सपर्याविधये भेदरूपिण्या विघ्नसंहतेः ।
सामान्यतो विशेषाच्च शान्ति सन्दर्श्य तत्परे ॥ ६० ॥

'चतुर्दशाभिजप्तेने'त्युपक्रान्त्यंशसंयुते ।
.....तथा पूज्यरूपनिष्कर्षपूर्वकम् ॥ ६१ ॥

यागहोमोभयात्मत्वं पूजायाः पूर्त्तिलक्षणम् ।
उपपाद्य च सर्वेषां अभ्यासानां फलात्मनाम् ॥ ६२ ॥

पूजापुरःसरत्वं यत्तत् समर्थितवानथ ।
त्रिंशे तु यान्यानित्यंशसहिते प्रोक्तलक्षणः ॥ ६३ ॥

तस्याभ्यासचतुष्कस्य संविदामर्शनात्मनः ।
सफलस्य स्फुटेनैव स्वरूपेणोपदर्शनम् ॥ ६४ ॥

प्रथयित्वा तथांशस्य चतुर्माममयं दिनम् ।
यावदभ्यस्य तत्सिद्धि योगिनः प्रत्यवादयत् ॥ ६५ ॥

उपान्त्येत्वस्य शास्त्रस्य समर्थ्यार्थोपसंहृतिम् ।
सप्रभावं परामृश्य .... ॥ ६६ ॥

प्रादर्शयदयं तावत्तत्तात्पर्यस्य संग्रहः ।
अथावयवशो व्याख्या तस्येदानीं विलिख्यते ॥ ६७ ॥

शेषः ।

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयन् ॥ ६८ ॥

इति स्वच्छन्ददेवोक्तस्वसंवित्सिद्धवर्त्मना ।
प्रबुध्यमाना स्वात्मैव देवता प्रत्यगात्मनः ॥ ६९ ॥

सती प्रत्यभिजिज्ञासुरात्मानं पृच्छतीश्वरम् ।
तत्र 'श्रीदेव्युवाचेति' कृतः श्रीशासनोदयः ॥ ७० ॥

समनन्तरसूत्रस्य कथंकारानुरूप्यतः ।
अस्य धातोर्वचेरत्र प्रश्नार्थत्वेन योजना ॥ ७१ ॥

तद्गताय तु भूतत्वं पारोक्ष्यञ्चास्य निर्वचः ।
भविष्यत्युचिते पश्चात् प्रतिपत्तृनिरूपणे ॥ ७२ ॥

किंपृच्छतीत्यपेक्षायां जातायामाह शासनम् ।

शेषम्—

'अनुत्तरं कथं देव सद्यः कौलिकसिद्धिदम् ॥ ७३ ॥
येन विज्ञातमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत् ।
एतद्गुह्यं महागुह्यं कथयस्व मम प्रभो' ॥ ७४ ॥
हे देवेति समस्तार्थजीवतात्मन् महेश्वर ।
ज्ञाने क्रियायां सर्वत्र ज्ञातृताकर्तृतात्मना ॥ ७५ ॥
आत्मनैवादिसिद्धत्वात्प्राथम्याभिमुखत्वभाक् ।
त्वं तवानुत्तरं रूपमुत्तरान् ग्राहकान् मितान् ॥ ७६ ॥
ग्राह्यसापेक्षसद्भावाज्जडाद्देहादितर्पितान् ।
अन्यदेव स्वयं भानं मादिकालादिकल्पनम् ॥ ७७ ॥

अनपह्नवनीयेन जागर्त्यनिशमात्मना ।
तत्र वाचोऽवकाशो नो दूरे वाच्यनियोजनाः ॥ ७८ ॥

अतस्तत्प्रश्नविषयः कस्य चेतयितुर्भवेत् ।
शेषः
इदं तु पृच्छत्येतस्य तया प्रक्रिययात्मनः ॥ ७९ ॥

देहाक्षभुवनाद्यात्मकुलसंपत्तिरूपता ।
भासते स्वाम्यपूर्णत्वस्वतन्त्रत्वानिवारिता ॥ ८० ॥

एतया ज्ञातया किं स्यादिति चेदुच्यतेऽनया[1] ।
ज्ञानगोचरतापन्नमात्रया व्योम्नि चिन्मये ॥ ८१ ॥

चरन्ती संविदेषा स्यात्पूर्णशक्तित्वतः स्वतः ।
कृतार्थप्रत्यभिज्ञातादन्यथा नैव खेचरी ॥ ८२ ॥

वेद्यभूमिषु संचारादत एव न पूर्णता ।
वेद्यैर्नियन्त्रितात्मीयचारायाः संविदो महः ॥ ८३ ॥
शेषः ।

तया वा ज्ञातमात्रेण देवताभिः समत्वदम् ।
रूपं संविन्मयं तत्ते कुलसंबन्धिनीं पराम् ॥ ८४ ॥

जीवन् भैरवतामर्शसुधास्वादोत्सवात्मिकाम् ।
अपरां च तथा सिद्धिं विश्वात्मत्वोदयात्मिकाम् ॥८५॥

स्वसंविद्देवताचक्रचक्रवर्तित्वचिन्मयीम् ।
ददाति धारणाद्यात्मक्रियायाः सानपेक्षितम् ॥ ८६ ॥

यदेतत्प्रस्तुतं वस्तु द्वयमप्रकटं स्वतः ।
न मायीयेन केनापि शक्त्यास्य प्रकटा क्रिया ॥ ८७ ॥

उपादेयतमत्वेन भाति चोत्कर्षवत्तया ।
स्वयमेव यथा भाति तथाकृत्वास्य गोपतेः ॥ ८८ ॥

प्रभुः प्रकटने च त्वं मम त्वत्क्लृप्तसंस्थितेः ।
स्वन्नियुक्ततयैवैवं पृच्छन्त्याः संविदस्तव ॥ ८९ ॥

---

१. अधुनेत्यपि पाठः ।

कथनेन विमर्शस्य पश्यन्त्यादिक्रमोदयाम् ।
वैखरवृत्तिपर्यन्तां पदवीमानय प्रभो ॥ ९० ॥

ननु च ग्राहकस्वात्मा हृदये सा प्रकाशते ।
सर्वस्य तस्य प्रश्नेन किं स्यात्सत्यं प्रकाशते ॥ ९१ ॥

प्रकाशमानाप्येषा तु स्वभावेन यथा तथा ।
हृदयङ्गमतां नैति पथि पर्णतृणादिवत् ॥ ९२ ॥

नत्वप्रकाशमानत्वं स्वतो नो चेत्तथास्तु सा ।
तदानीं कः भवद्दोषो नैतत् संसरणं परम् ॥ ९३ ॥

तदेतद्राघवायोक्तं वसिष्ठेन महात्मना ।
शेषः ।
स्वापरामर्शमात्रोऽयमपराधः कियानसौ ॥ ९४ ॥

तावन्मात्रेण तज्जातं यद्वक्तुं नैव पार्यते ।
प्रत्यभिज्ञा मयापूर्वचमत्काररसात्मनि ॥ ९५ ॥

हृदयङ्गमतायां गीः सत्यां पूर्वोक्तलक्षणा ।
पुरा तदा तदभ्यासससाध्याप्यपररूपिणी ॥ ९६ ॥

द्विविधापि भवेत् तृप्तिः सिद्धिरूपा न चान्यथा ।
इति प्रथयितव्यांशप्रथनायोपयोगवान् ॥ ९७ ॥

प्रश्नस्तदर्थमेतस्मादुत्तरः शासनोदयः ।
'हृदये या तु सा शक्तिः कौलिकी कुलनायिका ॥९८॥

तां मे कथय देवेश येन तृप्तिं व्रजाम्यहम् ।'
स्वयं संविन्मये तत्र त्वद्रूपेऽनुत्तरे हृदि ॥ ९९ ॥

तदात्मत्वेन विश्रान्ता यासौ स्वातंत्र्यलक्षणा ।
शक्तिर्धात्वर्थरूपत्वात्सर्वधात्वर्थधर्मिणी ॥ १०० ॥

स्फुरत्ता वाङ्मयी वर्णपञ्चाशक्तिशरीरिणी ।
वर्णत्रयाविभागात्मबीजभावव्यवस्थिता ॥ १०१ ॥

यस्याः कुलमिदं ग्राह्यग्रहणग्राहकात्मकम् ।
चक्रं निर्मेयतां लब्ध्वा सत्तामाप्नोति शाश्वतीम् ॥१०२॥

निर्मितस्य कुलस्यास्य नायिका तस्य वेदनात् ।
तद्भातं कुर्वती या च तदधिष्ठातृतापदम् ॥ १०३ ॥
तदीयरूप (रे शन्ति) वियोगनयनक्रिया ? ।
नेत्री च ममतामेनां हृदयंगमतां नय ॥ १०४ ॥
हृदयंगमतानीत्या यया प्रस्तुतरूपया ।
स्वात्मलाभात्मना लब्धतदभ्यासात्मना तथा ॥ १०५ ॥
अहं सर्वार्थसंवित्तिमयी पूर्णाशया सती ।
तृप्ती द्वे प्रस्तुते प्राप्य त्वयि पेये चिदम्बुधौ ॥ १०६ ॥
शेषः ।
एवमुद्यन्तृता शक्तिस्वरूपानुप्रवेशनैः ।
प्रबुद्धता स्यात् पूर्णत्वात्सैषा भैरवरूपिणी ॥ १०७ ॥
स्वात्मैव देवता प्रष्टृप्रतिवक्तृत्वमश्नुते ।
शेषः ।
प्रश्नकृत्प्रतिवक्तृत्वप्रथारूपेऽत्र वस्तुनि ॥ १०८ ॥
इदानीमिदमेतादृगिहेति व्यवहारगा ।
व्यवहारपदानां या वस्तुनामादितेष्यते ॥ १०९ ॥
यैषा न वास्तवी तद्वत्स्वरूपमनिदंप्रथम् ।
अनुज्झदेव कालेन स्वकल्पितसकलनात्मना ॥ ११० ॥
भिन्नेनावर्तते यस्माद् भूतत्वेनेच्यते ततः ।
तथावेद्यतयाप्येतद्भाति कल्पितरूपया ॥ १११ ॥
प्रत्यक्षग्राह्यताभावात् परोक्षेणोच्यते ततः ।
ततः श्रीभैरवो देव उवाचेतीदमुच्यते ॥ ११२ ॥
शेषः ।
'शृणु देवि महाभागे उत्तरस्याप्यनुत्तरम् ।
'कौलिकोऽयं विधिर्देवि मम हृद्व्योम्न्यवस्थितः ॥११३॥
कथयामि न सन्देहः सद्यः कौलिकसिद्धिदम् ।'
श्रुतिः कथनसापेक्षा कथनं ज्ञानपूर्वकम् ॥ ११४ ॥
अतस्तदानुगुण्येन योज्यतेऽर्धत्रयं त्विदम् ।
इत्येवमुत्तरत्रापि तत्र तत्र भविष्यति ॥ ११५ ॥

शेषः ।

प्रबोधोदयपर्याप्तमहाभाग्यशरीरिणि ।
श्रुत्वावधार्यतां सैषा यतस्तामुत्तरां तव ॥ ११६ ॥

ग्राहकत्वमयीं ग्राह्यग्रहणग्राहकात्मकाम् ।
अनुत्तरां परां शक्तिमुक्तृप्तिप्रयोजनाम् ॥ ११७ ॥

हृदयङ्गमतामेनां तथा देवि नयामि ते ।
यथावधारणे जातमात्र एवात्र वस्तुनि ॥ ११८ ॥

न पुनः संशयानन्तप्रोक्तमालिन्यमज्जनम् ।
यतो मम प्रबुद्धस्य हृदये मातृकात्मिका ॥ ११९ ॥

शब्दराशिस्तया प्राप्तभैरवीभावसंपदः ।
हृदयत्वेन चास्तेऽसौ विदिता बीजरूपिणी ॥ १२० ॥

'अथाद्यास्तिथयः सर्वे स्वरा बिन्द्ववसानकाः (गा) ।
तदन्तः कालयंगेन संमसूर्यौ प्रकीर्तितौ ॥ १२१ ॥

पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात्कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥ १२२ ॥

वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम् ।
तदूर्ध्वं शादि विख्यातं पुरस्तादब्रह्मपञ्चकम् ॥ १२३ ॥

अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ।
सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि ॥ १२४ ॥

इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा ।'
हृदव्योम्नीत्यत्र सप्तम्या हृदयात्संविदात्मनः ॥ १२५ ॥

अनुत्पादतया सिद्धिः प्रसिद्धा केयमिष्यते ॥
कौलिकस्य विधेरेष इति प्रत्यक्षरूपता ॥ १२६ ॥

सर्वस्य कथमित्येषा व्यंशिका नात्र युज्यते ।
ज्ञेयज्ञानाग्रहे ज्ञातुस्तद्रसे स्वमयत्वतः ॥ १२७ ॥

तद्भावेन स्वतैवैका कदाचिद्भात्यसाविति ।
जानामि घटमित्यात्मविश्रान्तिर्ज्ञेयरूपिणी ॥ १२८ ॥

कदाचित्स्वामिनैवैका कालयोरुभयोरपि ।
पदार्थद्वितयं तत्र संविदि प्रथते यतः ॥ १२९ ॥
शेषः ।
तत्र ज्ञाता च सर्वात्मनिर्विवादा परोक्षभाक् ।
ज्ञेयोन्मेषनिमेषात्म-स्वक्रिया-कलनात्मना ॥ १३० ॥
तत्संकोचविकासात्मना ..... ।
नित्येन विभुना ज्ञानक्रियानिवृतिलक्षणा ॥ १३१ ॥
स्वेन भावेन परितः स्वस्याहमिदमात्मता ।
स्पन्देनैनैव सारेण प्रसिध्यति न जातुचित् ॥ १३२ ॥
परिनिष्ठितरूपत्वं परिच्छिन्नं प्रकाशताम् ।
जडानामात्मसात्कुर्वन्नेति लोष्ठातितुल्यताम् ॥ १३३ ॥
काणादसांख्यबौद्धादिमितदृक्कल्पितामसौ ।
संसृतौ गुणिनं तत्र कगभुग्दर्शनाश्रिताः ॥ १३४ ॥
अपवर्गे तदुच्छेदे मन्यन्ते तं शिलोपमम् ।
अर्थप्रकाशकं ज्ञानं बौद्धमेवेति निश्चिताः ॥ १३५ ॥
कापिला अपि तं प्राहुरर्थदीनमसत्समम् ।
धीवृत्तिर्निर्विमर्शात्मा क्षणिकात्मेति सौगताः ॥ १३६ ॥
स्वयमेवोपयान्त्येनं शून्यमेव विपश्चितः ।
निर्विमर्शक्रियं भानं विश्वात्मत्वेन तं परे ॥ १३७ ॥
अभ्युपेत्यास्य सद्भावं मायावेदान्तिशाब्दिकाः ।
अविद्यान्धत्वतन्मुक्त्योरविशिष्टं विविञ्चते ॥ १३८ ॥
अन्येऽपि चैवमन्योक्तस्वोक्तदूषणभूषणे ।
वितन्वानास्त्वयीत्युक्तरूपमेनमुपासते ॥ १३९ ॥
ज्ञेयसत्ताप्रथारूपज्ञातृकर्तृत्वलक्षणः ।
ज्ञातृत्वेष स्वपरिस्पन्दसारत्वेनेह निश्चितः ॥ १४० ॥
सा संकोचविकासात्मा तस्य च स्पन्दतिक्रिया ।
बाह्यान्तरात्मव्याप्त्यन्यमयद्वैविध्ययोगिनी ॥ १४१ ॥
विश्वबीजात्महृदया तदंशेषु यथा यथा ।
उच्चारणमुहूर्त्तादिसमावेशात्मना दिशा ॥ १४२ ॥

ज्ञातेषु स्फुटतामेति ज्ञातृतास्य तथा तथा ।
उत्कृष्यते परे यावत्तत्त्वे भैरवसंज्ञिनि ॥ १४३ ॥

उच्चारणेऽपि प्राणात्मस्पन्दनात्मन्यसन्मुखी ।
यथा यथा सा न्यूनत्वमज्ञातेष्वश्नुते तथा ॥ १४४ ॥

तथा निष्कृष्यते यावज्जडे पाषाणपर्वणि ।
शेषः ।
स चायं मम संकोचविकासवपुरात्मनः ॥ १४५ ॥

अनुत्तरस्य शक्तिः सा विसर्गात्मैवमात्मनः ।
प्रकाशैकतनुर्यस्मात्सेयं ज्ञानक्रियात्मिका ॥ १४६ ॥

अनुत्तरस्य मे शक्तिर्विसर्गात्मात्तरूपिणी ।
'अः' इत्यत्रात एवैष सद्विश्रान्त्युदयात्मनोः ॥ १४७ ॥

'शिवो विश्वाद्यनन्तान्तः परं शक्तित्रयं मतम् ।'
इत्येतद्दर्शितात्मीयलक्षणोः भैरवात्मनोः ॥ १४८ ॥

शिवशक्त्योश्चिद्विमर्शपरिपूर्त्तिस्वरूपयोः ।
संघट्ट उच्यते रुद्रयोगिनीयामलात्मना ॥ १४९ ॥

सा च स्वान्तरभेदेन भवद्भिः सार्वकालिकैः ।
चिदानन्दैषणेशित्वसोमेशेनत्वशक्तिभिः ॥ १५० ॥

इच्छेशनचिदन्तःस्थचेत्यसत्तास्फुरान्वितैः ।
चिदानन्दगुणीभूतवृद्धीच्छोन्मेषमिश्रणैः ॥ १५१ ॥

चतुर्भिरेषणाज्ञानक्रियातत्समतात्मभिः ।
वेद्यसंस्कारवित्त्यात्मबिन्दुसंवेदनान्वितैः ॥ १५२ ॥

विशेषैस्तिथिसंख्यातैः पूर्यमाणावतिष्ठते ।
एवं पूर्णविसर्गात्मा यश्चिदात्मा विसर्गतः ॥ १५३ ॥

परभैरवभैरव्योर्यामलं तद्विसर्गता ।
तेषु सामान्यरूपत्वान्न पृथक्त्वेन गण्यते ॥ १५४ ॥

शेषः ।
एवं विसर्गरूपे मे हृदयेऽनुत्तरात्मनः ।
वक्तुर्वक्तिक्रियारूपे तादात्म्येन स्थिता सती ॥ १५५ ॥

प्रसरत्येवमेषा यदकाराद्या अमन्तिमाः ।
एते प्रबोधचन्द्रस्य प्रकाशाह्लादरूपिणः ॥ १५६ ॥

स्थितेर्विसर्गरूपायाः पूरणात्तिथिसंज्ञिनः ।
स्वराश्च शब्दनात्मानः स्वपरामर्शविग्रहाः ॥ १५७ ॥

स्वयञ्च स्वप्रकाशार्थप्रकाशत्वेन राजनम् ।
कुर्वते सर्व एवैते यत्तात्पर्यवसानभूः ॥ १५८ ॥

सोमसूर्यात्मसंकोचविकासस्पन्दनात्मकः ।
अध ऊर्ध्वविभागोद्यद् बिन्दुद्वितयविग्रहः ॥ १५९ ॥

कालेन कलनारूपपरामर्शात्मतात्मना ।
अवियुक्तया भाति तिथीनां कालताजुषाम् ॥ १६० ॥

तेषामात्मा विसर्गाच्च भूत्वा प्रसरति स्वयम् ।
शेषः ।
एवँ बहिरप्यात्तसोमसूर्यात्मतात्मनाम् ॥ १६१ ॥

तिथीनां कालताभाजां याति नक्तंदिवात्मताम् ।
परेयं सा विसृष्टिः स्यात्तदिच्छेशनवर्त्तिनः ॥ १६२ ॥

वेद्यस्य बहिरुन्मेषे स्थूलसूक्ष्मत्वभेदतः ।
पृथ्व्यम्बवग्न्यानिलव्योमसंज्ञा यत्तत्त्वपञ्चकम् ॥ १६३ ॥

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दनात्म च पञ्चकम् ।
स एव वेद्यस्योल्लासः स्पृश्यते करणात्मना ॥ १६४ ॥

यदा तदेन्द्रियाणां स्यात्कर्म ज्ञानात्मनां प्रथा ।
दशधोदेति वागाद्या प्राणाद्या तत्त्वरूपिणी ॥ १६५ ॥

ततः क्रमेण वेद्यत्वन्यग्भावे वेदनोद्गमे ।
मनोऽहंकरणं बुद्धिः प्रधानं पञ्चमः पुमान् ॥ १६६ ॥

इति तत्त्वानि जायन्ते पञ्च वेद्यानि तानि च ।
ननु पुंसो वेदकस्य वेद्येषु गणनं कथम् ॥ १६७ ॥

उच्यतेऽस्य मितत्वेन पुंसो वेद्येषु कीर्त्तनम् ।
तेनानेन विना कस्य वेद्यं पृथ्व्यादि तद्भवेत् ॥ १६८ ॥

उक्तक्रमं शिवो वेत्ति यतः सर्वं तदक्रमम् ।
अहमित्यात्मविश्रान्तं ममेति तु न जातुचित् ॥ १६९ ॥
यस्मात्तेन विना वेद्यं न स्यात्तत् पृथिवीमुखम् ।
तद्वेद्याभासनस्येयद्रूपं यद्वेद्यताजुषः ॥ १७० ॥
देहादेर्वेद्यजातस्य भिन्नं वेद्यं प्रतिस्वतः ।
वेदकी भावना तत्र क्रियायां व्यावृता इमाः ॥ १७१ ॥
किंचित्कर्तृतया तस्य प्रेरिका वायवी कला ।
विद्या किंचिज्ज्ञतृतास्य वाह्नी तस्य प्रकाशिका ॥ १७२॥
अभिष्वङ्गनिमग्नत्वस्तम्भनव्यावृतिस्फुरा ।
पार्थिवी रागशक्तिस्तच्चतुष्कात्मा नियामिका ॥ १७३ ॥
नियतिस्तस्य कार्येषु ताश्चतस्रो हि शक्तयः ।
वेद्यवेत्तृात्मनोर्वित्त्योर्मध्ये विश्रमयन्त्रितम् ॥ १७४ ॥
रोदस्योरन्तरे यद्वत् त्रिशङ्कुमुनिशक्तयः ।
अन्यथेदंप्रथैकत्वादसौ लोष्ठादितां व्रजेत् ॥ १७५ ॥
अहंसंवेदनैकत्वे पूर्णं चित्खं समुत्पतेत् ।
प्रकारद्वितयेऽप्यस्य मायामातुरभावतः ॥ १७६ ॥
अकिंचनत्वे वेद्यस्य पृथ्व्यादेरपि तत्त्वतः ।
संकोचो वा विकासो वा न भवेद्वास्तवस्तदा ॥ १७७ ॥
अन्योन्याश्रयभावेन तयोरेकात्मता यतः ।
तद्विसर्गस्वरूपेण संकुचद्विकसत्तया ॥ १७८ ॥
अशेषमियदाक्षिप्तं यद्ग्राह्यग्राहकात्मकम् ।
अन्योन्योचित्यतः सृष्टिः पदार्थानां प्रतायते ॥ १७९ ॥

शेषः ।

व्योमशक्तिस्त्वकायात्मा नात्र व्याप्रियते विधौ ।
अवेद्यत्वाच्च वेद्यानामवकाशत्वतश्च तत् ॥ १८० ॥
प्रमातृता परं सिद्धयै तया शुद्धा स्वयंप्रथा ।

शेषः ।

एवमारभ्य पृथिवीं मायान्ता तत्त्वविस्तृतिः ॥ १८१ ॥

कादिमान्तपरामर्शरूपेयमपरोच्यते ।
वेद्यतायाः क्रमेणास्य न्यग्भावे संविदात्मनः ॥ १८२ ॥
प्रकाशने च रूपस्य प्रथते तत्त्ववञ्चकम् ।
कञ्चुकोन्मोचनारूपविकासब्रह्मात्मकम् ॥ १८३ ॥
तदधृत्याप्यायनालोकस्पन्दनव्यापनक्रियम् ।
सद्विद्येश्वरसादाख्यशक्तिसंवित्स्वरूपकम् ॥ १८४ ॥
सद्यादीशानपर्यन्तब्रह्मत्वेनापि विश्रुतम् ।
ककारादिक्षकारान्तपरामर्शशरीरकम् ॥ १८५ ॥
यदात्मा प्रसृतिस्तस्या वाचः सोक्ता परापरा ।
एवं विसर्गरूपत्वं प्राप्तात्तस्मादनुत्तरात् ॥ १८६ ॥
प्रसृतं तद्विसर्गस्य रूपं संवित्क्रियात्मकम् ।
अनुत्तरा या प्रसृतिर्हान्ता विश्वस्वरूपिणी ॥ १८७ ॥
प्रत्याहृताशेषविश्वानुत्तरे सा विलीयते ।
तदिदं विश्वमन्तस्थं शक्तौ सानुत्तरे परे ॥ १८८ ॥
तत्तस्यामिति यत्सत्यं विभुना संपुटीकृतिः ।
विसर्ग एव शाक्तोऽयं शिवबिन्दुतया पुनः ॥ १८९ ॥
गर्भीकृतानन्तविश्वः श्रूयतेऽनुत्तरात्मता ।
इति निश्चितया नीत्या तस्मिन्नात्मन्यनुत्तरे ॥ १९० ॥
प्रत्याहृतं तद्वर्णौघपरामर्शप्रथात्मकम् ।
पुनः प्ररोहणौचित्यमयबीजात्मबिन्दुताम् ॥ १९१ ॥
प्राप्तं तथाविसर्गत्वनिसर्गं प्रतिपद्य च ।
विश्रम्य वपुरप्येवं प्रसृतिं प्रतिपद्यते ॥ १९२ ॥
यतो ममैतच्छक्तीनां चक्रमिच्छानुवर्तनम् ।
चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां भावयात्मनाम् ॥ १९३ ॥
भूतकञ्चुकबीजत्वमौचित्येनाश्रितात्मनाम् ।
अनुत्तरेच्छोन्मेषात्मन्यश्नविश्रसितात्मकम् ॥ १९४ ॥
तथाह्यनुत्तरा तत्र चित्स्यादिच्छा त्रिधोद्यताम् ।
इष्यमाणार्थसद्भावा मीलनोन्मीलतत्त्वभाक् ॥ १९५ ॥

आनन्दः प्रथमांशेन मध्येनेच्छान्तिमेन सा।
ज्ञानमुन्मेषशक्तिः स्यात् क्रियातस्तत् त्रयात्मकम् ॥१९६॥

अविभागपरामर्शरूपं प्रथमतस्ततः।
विभागामर्शवपुषा पञ्च तदभेदमागतम् ॥ १९७ ॥

परामृश्यात्मना बाह्यतत्त्वजालञ्च जायते।
परात्मता तस्य जीवितं तस्य मातृका ॥ १९८ ॥

उत्पत्तिभूमिस्तत्सैव मन्त्राणां गुप्तभाषिणाम्।
चतुष्कलनवात्मादिबीजपिण्डतयोद्यताम् ॥ १९९ ॥

पुंरूपवाच्याध्यासेन भातां विद्यात्मनामपि।
नमः शंभव इत्यादिस्फुटवेद्यार्थवाचिनाम् ॥ २०० ॥

स्त्रीरूपवाच्याध्यासेन भातां मायात्मनामपि।
सर्वेषां कारणत्वेन चोच्यते ॥ २०१ ॥

तथाहि सर्वतन्त्रेषु यत्किंचित्तत्त्वमिष्यते।
परापरविभूत्याप्तिपरतृप्तिप्रदायकम् ॥ २०२ ॥

तत्सर्वं लभते तत्त्वषट्त्रिंशत्यान्तरात्मनि।
विमर्शजीवितत्वेन तस्याः सर्वविमर्शभूः ॥ २०३ ॥

सर्वं ददाति सा देवी मातृका तत्तदात्मिका।
शेषः।
एषोक्ता त्रिविधा सृष्टिरादिक्षान्ताक्षरात्मिका ॥ २०४ ॥

अनुत्तराच्चिदाकाशादक्षरादस्वरात्मनः।
प्रसृता कान्त तत्त्वौघा पुनर्विश्रमणोन्मुखी ॥ २०५ ॥

प्रत्याहृतसमस्तैतद्वाच्यवाचकचिन्मयी।
तत्रैवानुत्तरे धाम्नि क्रमणं भजते शिवे ॥ २०६ ॥

तव ज्ञेयतयेदानीमात्मनोदाहृता मया।
अनया ज्ञातयैवं हि त्वया ज्ञातमनुत्तरम् ॥ २०७ ॥

अखण्डपूर्णपरचित्प्रकाशस्पन्दनात्मकम्।
सहजाहंपरामर्शशक्तिसंभाविताखिलम् ॥ २०८ ॥

वितस्य व्यक्तमेवैतदहमन्यत्ततोपि यत् ।
इति क्षयैव ज्ञातं स्यादत एवं यशस्विनी ॥ २०६ ॥

इयद्विश्वशरीरासि त्वमित्युद्घोष्यसे बुधैः ।
इयं किलोक्तविभवा तत्तत्त्वमिति निश्चयः ॥ २१० ॥

तदेवमविभागात्मा स्थिता पूर्वं हृदम्बरे ।
शक्तिर्विमर्शरूपा सा विभागामर्शरूपतः ॥ २११ ॥

समस्ततत्त्वसद्भावमयी कौलिकसिद्धिदा ।
अनेनैवोक्तरूपेणानुत्तरस्य ममात्मनः ॥ २१२ ॥

स्वातंत्र्येण विसर्गोऽसौ स्वीकरोतीति निश्चितम् ।
नन्वेते सन्ति भेदात्मपरामर्शमयोदयाः ॥ २१३ ॥

क्रमादाद्याः क्षकारान्तास्तदभेदमयोदयाः ।
प्रस्तुता वाङ्मयी शक्तिर्येयं भैरवतामयी ॥ २१४ ॥

यतो बीजादुदेत्येषा हृदयात्तव शाश्वतात् ।
तत् प्राप्तसर्वसंपत्तिप्राप्त्यमृतसागरे ॥ २१५ ॥

हृदयस्य स्वरूपे ते निश्चयाभावलक्षणः ।
संशयोऽद्यापि नोपैति च्यवनं मनसो मम ॥ २१६ ॥

तत्कर्तव्यमिदानोमित्येतदाशंक्य शासनम् ।
तं च्यावयति सूत्रेण परमेशितुः ॥ २१७ ॥

'चतुर्दशयुतं भद्रे तिथीशान्तसमन्वितम् ।
तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि हृदयं भैरवात्मनः' ॥ २१८ ॥

संपूर्णानुत्तरानन्दसंवित्संपत्तिशालिना ।
क्रियाद्वारान्तरानीतवाञ्छाज्ञानद्वयश्रिया ॥ २१९ ॥

अशेषसंवित्संघट्टपरामर्शमयात्मना ।
चतुर्दशेन यदिदं स्वरेण सहितं तदा ॥ २२० ॥

तृतीयं ब्रह्म सादाख्यतत्त्वात्माघोरभासनम् ।
अहन्तान्तःकृतेदन्तारूपग्राह्यार्थलक्षम् ॥ २२१ ॥

तद्विश्वं तत्तिथीशानां स्वराणामुक्तलक्षणम् ।
पर्यन्तभित्तिभूतोऽसौ य आत्मत्वेन निश्चितः ॥ २२२ ॥

विसर्गस्तत्र विश्राम्यदविरोधेन वर्तते ।
तदिदं हृदयं शब्दराशेः चिद्भूरितात्मनः ॥ २२३ ॥
"सर्वतत्त्वमयः कायस्तं चेदानीं शृणु प्रिये ।
पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेंऽभः प्रकीर्तितम्" ॥ २२४ ॥
इत्यादि त्रिशिरोदेव(स्थित्या)स्त्रित्यायुपपन्नया ।
तत्त्वैस्ततस्य देहस्य तन्त्रितस्य त्वगादिभिः ॥ २२५ ॥

साधुभिर्भिन्नसन्धानैस्तदशेषभिदोज्झितम् ।
तत्सत्तासंविदात्मत्वं सतत्त्वं सततोदितम् ॥ २२६ ॥
हृदयं पद्यतेरर्थतया यद्वदपेक्ष्यते ।
एवमेवात्मनः शम्भोः शब्दराशेः शरीरिणः ॥ २२७ ॥

विभक्ततत्त्वभूतादिप्रथासंतानतन्त्रितम् ।
परामर्शमयत्वेन पञ्चाशद्वर्णतात्मकम् ॥ २२८ ॥
विश्वं शरीरं यदिदं तदशेषभिदोज्झितम् ।
तत्सत्ता संविदात्मत्वं सतत्त्वं सततोदितम् ॥ २२९ ॥

हृदयं विश्रमस्थानं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
हे विश्रान्तिमयाह्लादविमर्शमयविग्रहे ॥ २३० ॥
सुश्रोणि यदिदं प्रोक्तं शक्तित्रितयसंकुचत् ।
विकसत्वमयस्वात्मन्यश्रस्पन्दनसुन्दरम् ॥ २३१ ॥

तद्विद्धि हृदयं तस्य शब्दराशितनोर्मम ।
पराया आत्मभूतायाः परामर्शतनोश्चितेः ॥ २३२ ॥
एतदुक्तं भवत्येषा मामसौ संविदद्वया ।
एतेन तावत्स्पन्देन प्रोक्तबीजात्मना द्वयोः ॥ २३३ ॥

कोट्योरुदयविश्रान्तितत्त्वयोः स्पन्दते तथा ।
तत्प्रभावत एवार्थप्रकाशामर्शनात्मनि ॥ २३४ ॥
स्वात्मभैरवसंवित्तौ विसर्गात्मनि वक्ष्यते ।
तुर्यपर्यन्तरूपायाः क्षेपो विश्वव्यवस्थितेः ॥ २३५ ॥
'एतन्नायोगिनीजातो नारुद्रो लभते स्फुटम् ।
हृदयं देवदेवस्य सद्यो योगविमोक्षदम्' ॥ २३६ ॥

विश्वस्य बीजमेतद्यो लभते पुण्यकृत्पुमान् ।
तदैवं न पशुः सोऽयं लब्धेऽस्मिन्नेतदेव हि ॥ २३७ ॥

जायते हृदयं तस्य सैतद्धृदयतैव यत् ।
भैरवत्वं ततो रुद्रयोगिनीयामलात्मनोः ॥ २३८ ॥

स्वात्मभैरवभैरव्योः स्वतोऽन्योन्याविभुक्तयोः ।
स्वरूपौन्मीलनात्मात्मवीर्यपानक्रियोद्यताम् ॥ २३९ ॥

दाम्पत्याज्जात एवासौ न लभेतैतदन्यथा ।
अस्मिन् ह्युन्मीलितेऽनेन हृदयेन सहैकता ॥ २४० ॥

एतद्धृदयलाभश्च स एवोक्तस्वरूपयोः ।
दम्पत्योर्यामलावेशो मिषत्तेद्वीवलक्षणः ॥ २४१ ॥

एवमुन्मीलने जातमात्रे रूपमनुत्तरम् ।
यथा ददाति तत्सिद्धिं जीवन्मुक्तिमयीं पराम् ॥ २४२ ॥

तथा निर्णीतमधुना यथा तत्परा अपि ।
कुलसंबन्धिनी सिद्धिः त्यक्तान्यायासडम्बरम् ॥ २४३ ॥

स्वात्मसंवित्परामर्शबलादेव ददात्यमुम् ।
प्रकारं प्रकटीकर्तुं शासनोपक्रमः परम् ॥ २४४ ॥

'अस्योच्चारे कृते सम्यङ्मन्त्रमुद्रागणो महान् ।
सद्यस्तन्मुखतामेति स्वत्वाहावेशलक्षणम्' ॥ २४५ ॥

एतत्संवित्स्वसत्त्वं चेद्धृदयत्वं प्रपद्यते ।
तया स्याज्जीवतो मुक्तिः परा सिद्धिरितीरितम् ॥२४६॥

यथा तदेव प्राणादिभूमिष्वाभाससंपदा ।
तद्रूपजाड्यमालिन्यसमुन्मूलनतत्त्वया ॥ २४७ ॥

नसधातुवदुक्तैतद्रूपतापादनात्मना ।
प्रसरद्रूपतामेति तदास्या देवसंविदः ॥ २४८ ॥

नाडीजयादिशास्त्रोक्ततयोगसापेक्षतोज्झिताः ।
तत्समावेशपर्यायाः प्रसरात्संपदोऽखिलाः ॥ २४९ ॥

अपरा अपि जायन्त इति तात्पर्यवर्णना ।
अस्येत्यमुत आरभ्य जायते यजनं प्रति ॥ २५० ॥

इति पर्यवसानस्य शासनांशस्य विस्तृतेः ।
अथास्य बीजस्योच्चारे वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ॥ २५१ ॥

तदुच्चारयितुस्तस्य तदुद्योगक्रियात्मनि ।
प्राणात्मतायां जाते तु समावेशपुरोदिते ॥ २५२ ॥

ज्ञानक्रियाशरीराया मन्त्रमुद्रायहौजसः ।
विद्यन्ते गणनातीतविभवा गणशः स्थिता ॥ २५३ ॥

आभिमुख्यं भजन्त्येताः स्वदेहावेशतः कथम् ।
संपूर्णे चित्क्रियात्मोक्तहृदयैकात्मताजुषा ॥ २५४ ॥

प्राणेनाधिष्ठितेनाहन्ताद्वारेण तदात्मकम् ।
अवश्यं कम्पघूर्ण्यादिविधायिन्यो भवन्ति ताः ॥ २५५ ॥

मन्त्रमुद्रागणावेशो जातो यः प्राणदेहयोः ।
अयं तावद्विभूतीनामुपक्रमतयोच्यते ॥ २५६ ॥

तदा यत्नतया तासां ता हि तत्सिद्धिसाधने ।
देवतात्वेन तद्वीर्यरूपत्वेन च सन्निधिम् ॥ २५७ ॥

कुर्वाणाः साधकस्यास्य साधयन्ति समीहितम् ।
'मुहूर्तं स्मरते यस्तु चुम्बकेनाभिमुद्रितः ॥ २५८ ॥

स बध्नाति तदा देहे मन्त्रमुद्रागणं महत् ।
अतीतानागतानर्थान्पृष्टोऽसौ कथयत्यपि' ॥ २५९ ॥

तथाविधं समावेशं यदि नाडीद्वयावधिम् ।
अभ्यस्यति मुखं कुर्वन्काकचञ्चुपुटाकृति ॥ २६० ॥

बहिश्चोच्छिष्टभावौघभक्षणोद्योगभावितः ।
सद्वृत्तिरूपसोमार्शीतस्पर्शोदयावधिः ॥ २६१ ॥

उच्चरन् हृदयं पीतवियच्चरसमीरणः ।
प्राणेन स्पर्शरूपेण प्रोक्तेनैकत्वमानयन् ॥ २६२ ॥

नाभिस्थानस्थितस्वात्मवैश्वानरहुताशनैः ।
तज्ज्वालात्मक्रियारूपां तत्प्रतिष्ठां समाचरन् ॥ २६३ ॥

अपारजलधिप्रख्यामाश्रयन् कामपि स्थितिम् ।
आस्ते यदा देहे वायूपे कायलक्षणे ॥ २६४ ॥

मन्त्रमुद्रागणावेशमवशत्वेन ।। पश्यति ।
प्रष्टश्च प्रतिवक्त्येष वस्तु कालत्रयोदितम् ।। २६५ ।।

तदग्रासात्प्राप्तदद्भावधिषणादत्तविम्बितम् ।
'प्रहराद्यदभिप्रेतं देवतारूपमुखरन् ।। २६६ ।।

साक्षात् पश्यत्यसन्दिग्धमाकृष्टं रुद्रशक्तिभिः ।
प्रहरद्वयमात्रेण व्योमस्थो जायते स्मरन्' ।। २६७ ।।

अवैतथ्येन जातायां सिद्धौ तत्कथनात्मनि ।
अप्यनुज्ञितपूर्वोक्तादृशाभ्यासकौशलः ।। २६८ ।।

कांचिन्मन्त्रमयीं मुद्रामयीं वा देवतां स्मरन् ।
आस्ते चेद्यामपर्यन्तकालग्रासात्मचित्क्रियः ।। २६९ ।।

तदानीं तदवष्टम्भसामर्थ्यापादितात्मताम् ।
तामेव देवतां तत्तद्वेषभूषादिलक्षिताम् ।। २७० ।।

अध्यक्षयत्यसन्दिग्धं निजाहंसंविदात्मिकाम् ।
पुनरप्येवमेवेममभ्यासमपरित्यजन् ।। २७१ ।।

यावद्धृदयमास्तेऽसौ तदैकात्मा यदा तदा ।
देहादिकं न किंचित्स्वमावृतित्वेन पश्यति ।। २७२ ।।

अनावरणचिद्व्योमरूपं सर्वमपीक्षते ।
'त्रयेण मातरः सर्वा योगीश्वर्यो महाबलाः ।। २७३ ।।

वीरा वीपेश्वराः सिद्धा बलवान् शाकिनीगणः ।
आगत्य समयं दत्त्वा भैरवेण प्रचोदिताः ।। २७४ ।।

यच्छन्ति परमां सिद्धिं फलं यद्वा समीहितम् ।'
स्वेनान्यदेहकं येन देहेनानेन भाविते ।। २७५ ।।

सर्वात्मना क्षयं याते स्वस्यावच्छेदने सति ।
पुनरप्यनवच्छिन्नस्वसमावेशपुष्कलः ।। २७६ ।।

यामत्रितयमास्ते च तदेतच्चास्य नोदिताः ।
ब्राह्म्याद्या मातरस्तत्तामाप्ता योगीश्वरीगणाः ।। २७७।।

त्रिपूर्वशास्त्रकिर्दिष्टा वीरा वीरेश्वराश्च ये ।
अघोरमुख्याः श्रीमन्तो नपेशाद्यास्तदीश्वराः(?) ।।२७८।।

तद्रूपावाप्तसिद्ध्या ये सिद्धाः साधकपुङ्गवाः ।
खेचर्यादिभिदाभाजां शक्तीनां शक्तताजुषाम् ॥ २७९ ॥

मात्रन्तर्बाह्यकरणमेयप्रमितलक्षणम् ।
प्रमातुरात्मनः शंभोः स्फूर्त्तिः स्वातंत्र्यसंपदाम् ॥ २८० ॥

या चैषा भाति ते सर्वे स्वात्मनो भैरवात्मनः ।
बलेन हि महाविश्वहठात्मीकरणात्मना ॥ २८१ ॥

बीजरूपेण वीर्येण हृदयेनैकतां गताः ।
स्वरूपाच्छादने कादिधारणान्ताक्षरात्मनि ॥ २८२ ॥

भोगेऽवभासने स्वस्य शादिक्षान्तान्तरात्मनि ।
तुर्यवृत्तिमयस्वात्मसंविदव्याप्तोक्ततत्रये (?) ॥ २८३ ॥

भुक्तिमुक्त्युभयास्वादे स्वचिच्चक्रानुजीवने ।
कर्त्रेषितृमयस्वप्रथामर्शनात्मनि ॥ २८४ ॥

विमर्शनस्वरूपस्य विसर्गात्मन्यनुत्तरे ।
आनन्दकेवलात्मीयप्रथास्वादोदयात्मनि ॥ २८५ ॥

कैवल्ये चात्मता तेन भैरवेणेयतः फलम् ।
अभ्यासिने प्रदातव्यमियदित्येवमात्मना ॥ २८६ ॥

व्यवस्थया प्रकर्षेण चोदितास्तदधीशिना ।
..... एव तदाविष्टशरीरादेस्तदात्मनः ॥ २८७ ॥

स्थिता अनुचरत्वेन पुरतो देवतागणाः ।
..... समावेशैकलक्षणः ॥ २८८ ॥

योगो य एष देहादेर्हृदैक्यापादनात्मना ।
समावेशेन कालस्य ग्रासे संकलनात्मनः ॥ २८९ ॥

अभ्यस्यंस्तं विनाप्येष शक्तीनामुक्तलक्षणम् ।
सामान्यशक्तिचक्रेशस्वरूपाध्यवसात्मकम् ॥ २९० ॥

भवेत्तदीशतासिद्धियोग्यतां लभते च यत् ।
तथात्मत्वेन तासां च चक्रेणेति समानताम् ॥ २९१ ॥

यतश्च यजने येयमितिकर्तव्यतोच्यते ।
तत्क्रियापूरकत्वेन तामविद्वानपि त्वयम् ॥ २९२ ॥

ज्ञातेन हृदयेनैव पूरणात्सर्ववस्तुनः ।
विद्वान्भवति यश्चैष शङ्कासंकोचवर्त्तिनः ॥ २९३ ॥

विधीन् नियामकत्वेन न जानात्यात्मनोऽखिलान् ।
अपि तान् ज्ञातवानेव यतो विधिमनुत्तरम् ॥ २९४ ॥

चिदात्मस्वविमर्शात्महृदयैक्यस्वलक्षणम् ।
जानाति ननु चोक्तैतत्परामर्शात्मसात्कृतौ ॥ २९५ ॥

यागेन भाव्यं मैवं यत्तस्मिन्नात्मन्यनुत्तरे ।
तद्योजनैव यजनं तत्तामात्रो ह्यनुत्तरः ॥ २९६ ॥

अतो नयेऽस्मिन्निखिलं विधानविधिरूपकम् ।
बहिरङ्गं भवत्यन्यदिति यागः क्रियामयः ॥ २९७ ॥

पूर्वभाक्तिया चास्य ग्रहणे येन चोदिता ।
ननु यत्पूर्वमुक्तं मे हृदयं भवतीरिति ॥ २९८ ॥

बीजं चतुर्दशेत्यादि तदुद्धारोपदेशने ।
तस्यान्तस्तत्त्वषट्त्रिंशद्रूपविश्वात्मताजुषः ॥ २९९ ॥

शक्तिसंपूर्त्तिरूपाया परायाश्चात्मनश्चितेः ।
विमर्शयति सद्भावमित्याशंक्य निरूप्यते ॥ ३०० ॥

'कालाग्निमादितः कृत्वा मायान्तं ब्रह्मदेहगम् ।
शिवो विश्वाद्यनन्तान्तः परं शक्तित्रयात्मसम् ॥ ३०१ ॥

तदन्तर्वर्ति यत्किंचिच्छुद्धमार्गे व्यवस्थितम् ।
अणुविशुद्धमचिरादैश्वरं ज्ञानमश्नुते ॥ ३०२ ॥

तच्चौदकः शिवो ज्ञेयः सर्वज्ञः परमेश्वरः ।
सर्वगो निर्मलः स्वच्छस्तृप्तः स्वायतनः शुचिः ॥ ३०३ ॥

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं सर्वमेतच्चराचरम्' ॥ ३०४ ॥

यथा घटशरावादिविकारानवलोकने ।
गन्धता तदनामर्शे क्रमेणाहंकृतात्मता ॥ ३०५ ॥

यथा भूतभिदाभङ्गे सुखादित्रयरूपता ।
वेद्यवेदकतामात्रा तस्याः पार्यन्तिकी स्थितिः ॥ ३०६ ॥

तद्रूपकञ्चुकामर्शवञ्चने तस्य विश्रमः ।
ब्रह्मपञ्चकरूपायां सत्तायामेव जायते ॥ ३०७ ॥

सदित्यस्यापि रूपस्य प्रत्ययांशापहस्तने ।
बीजाद्यवर्णमात्रा स्याद्विश्रान्तिः पारमार्थिकी ॥ ३०८ ॥

एवं जलादिमायान्ततत्त्वरूपस्य वस्तुनः ।
सर्वस्य सैव विश्रान्तिरन्त्येत्यत्रान्त्यविश्रमे ॥ ३०९ ॥

सर्वमेकघनं विश्वं तद्रूपस्यापरिच्युतेः ।
अमृतीभूतमभ्येति प्रकृतिं ब्रह्मरूपताम् ॥ ३१० ॥

सदेव सौम्य ब्रह्मेदमग्र इत्यध्यवस्यताम् ।
विश्रान्तिस्तावति ब्रह्मवादिनां श्रुतिवेदिनाम् ॥ ३११ ॥

तन्तिर्मन्थनवृत्त्या तु भैरवो विश्वसृष्टिकृत् ।
गीतं च गुरुणा सूनोः प्रथायास्तत्त्वबोधने ॥ ३१२ ॥

'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' ।
यदा सतोऽस्य विश्रान्तिधाम्नोऽप्यनवलोकनम् ॥३१३ ॥

तदा प्रथा विमर्शात्मशक्तिविश्रामितात्मनः ।
प्रकाशमानता सिद्धिरस्येत्यस्य तदेकता ॥ ३१४ ॥

सा च वाञ्छाक्रियाज्ञानशक्तिष्वन्यतमा भवेत् ।
सर्वं वस्तु सदिच्छामि जानामीत्यादिसंविदि ॥ ३१५ ॥

विश्रम्य व्यवहाराय नियतायोपकल्पते ।
इच्छामीत्यत्र केच्छायामस्ति ज्ञानक्रियात्मता ॥ ३१६ ॥

प्रथा संरम्भरूपायामेवमेवान्ययोरपि ।
अस्त्येवान्योन्यरूपत्वमतस्तत्त्रितयात्मनि ॥ ३१७ ॥

शक्तौ त्रिशूलरूपायां तद्विश्रान्तं प्रकाशते ।
तस्यापि तत्त्रयस्यैकं स्वतन्त्रं कर्तृतत्त्वतः ॥ ३१८ ॥

अध ऊर्ध्वोद्यदिन्दूर्कमयविन्दुद्वयात्मता ।
विश्वविश्वोत्तरस्वात्मव्यञ्जनस्वरतामयी ॥ ३१९ ॥

ज्ञेयाद्युपायसंघातनिरपेक्षाद्वयोदयात् ।
ज्ञप्तिञ्च ज्ञातृतारूपामहमित्याश्रयत्तनुम् ॥ ३२० ॥

प्रकाशमानमेवात्मरूपं तात्त्विक इष्यते ।
तदेतद्वेत्तृविश्रान्तित्रयलक्षणम् ॥ ३२१ ॥

बीजस्य रूपमित्युक्तं भवत्यत्र हि विश्वता ।
संपूर्णशक्तिरूपत्वं स्वात्मभैरवरूपता ॥ ३२२ ॥

एवं हृदयरूपायाः सिद्धा आसंश्चितेरिमाः ।
प्रधानीकुरुते तत्र यां विश्रान्तिं तदन्तता ॥ ३२३ ॥

तदंशाध्यवसायत्वप्राप्तान्यांशद्वयोदया ।
बीजोच्चारस्य रूपं स्यान्नतु तत्तत्कलान्तता ॥ ३२४ ॥

भुक्तिश्च भुक्तिमुक्ती च मुक्तिश्चेत्यत्र सिद्धयः ।
स्वात्मभैरवचिद्रूपे प्रकाशेऽहमिदन्तया ॥ ३२५ ॥

इच्छादिशक्तिद्वारेण सतः पूर्वोक्तलक्षणः ।
अक्रमक्रमरूपेण क्षेपौ वैसर्गिकी स्थितिः ॥ ३२६ ॥

सद्रूपमेतद्वेद्यञ्च वेदकं भैरवात्मकम् ।
उभयस्पर्शनाच्छक्तिरूपा चातुर्दशी स्थितिः ॥ ३२७ ॥

अवरोहक्रमेणैव वेत्तृवेदनरूपतः ।
वेद्यविदितृसामान्यरूपता ब्रह्मणि स्थितिः ॥ ३२८ ॥

शान्तोदितोभयात्मैतस्त्र्यश्रैकरसतामयी ।
परा विसर्गता यस्य विश्रान्तित्वेन सम्मता ॥ ३२९ ॥

विश्वात्मा पूर्णशक्तिश्च नाथो भैरव एव सः ।
इति कालाग्निमित्यादेः सर्वमेतच्चराचरम् ॥ ३३० ॥

इत्यन्तस्यागमांशस्य तात्पर्यमवधार्यताम् ।
ग्रन्थोऽथ योज्यते पृथव्यां यज्ञिनवृत्तिकलात्मनि ॥ ३३१॥

पुरषोडशकं प्रोक्तं कालाग्न्यादि तथा च यत् ।
जलादिमूलपर्यन्ते प्रतिष्ठाख्याकलात्मनि ॥ ३३२ ॥

नकुलीशादिषट्पञ्चाशत्संख्यात्मकं पुरं स्थितम् ।
पुमादिमायापर्यन्ते विद्यात्मनि च या स्थिता ॥ ३३३ ॥

पुराष्टाविंशतिर्वामप्रमुखा तैः शतात्मभिः ।
भुवनैः सह पृथ्व्यादिमायान्तं तत्त्वमण्डलम् ॥ ३३४ ॥

पुरैर्हालाहलारम्भैरष्टादशभिराचिते ।
शान्तितत्परूपान्यकलाद्वितयविग्रहे ॥ ३३५ ॥

उक्तस्य ब्रह्मणो देहे तत्त्वपञ्चकलक्षणे ।
कादिहान्तपरामर्शरूपं विश्रान्तिमृच्छति ॥ ३३६ ॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपस्य सतोऽस्य व्यञ्जनात्मनः ।
आदीः कर्तृज्ञेतृज्ञातृमयं ह्रस्वत्रयात्मकः ॥ ३३७ ॥

शिवः स्वरात्मा यो या च तदिच्छा शक्तिरूपिणी ।
अनुत्तरा परेच्छा च परापरया स्थिता ॥ ३३८ ॥

उन्मेषशक्तिर्नाख्या त्वपरेति निगद्यते ।
इत्यानन्देशनोनत्वमयदीर्घस्वात्मिका (?) ॥ ३३९ ॥

शिवाशक्तित्रयमयी स्यात्तद् बिन्द्वन्तवेदना ।
तदेतद् द्वितयं कर्तृक्रियारूपमनुत्तरे ॥ ३४० ॥

विसर्गात्मनि चिद्रूपे स्वतन्त्रेऽनन्तनामनि ।
न विद्यतेऽन्यपर्यायो यस्यान्तस्तत्र चात्मनः ॥ ३४१ ॥

अशेषशक्तिसंघट्टपरामर्शमयात्मनि ।
तुर्यसन्ध्यर्णरूपायां चितौ चानुत्तरेशितुः ॥ ३४२ ॥

विश्राम्यति थं एषोऽस्य शब्दराशिमहातनोः ।
विसर्गस्यात्तविश्वस्य चोदकत्वेन वर्तते ॥ ३४३ ॥

चतुर्दशमयः प्राणः शिवस्यात्मतया शिवः ।
स एव शुद्धविद्यादौ शिवान्ते तत्त्वपञ्चके ॥ ३४४ ॥

स्वव्यापिब्रह्मणो देहे सतोऽव्यापकतां भजन् ।
ज्ञेयस्तत्रांशतो विद्यामायात्मात्वाद्यपर्वणि (?) ॥ ३४५ ॥

भिन्नस्य भिन्नाभिन्नस्य सर्वस्य ज्ञातृतापदम् ।
स्वमायासङ्कटोत्तीर्णं प्राप्नोति परमेशिताम ॥ ३४६ ॥

पाशैरागन्तुकैर्मायाविभ्रमैः कञ्चुकात्मभिः ।
वियोगात्सर्वैरसञ्चारो भवेत्संविन्मयोऽम्बरे ॥ ३४७ ॥

सहजाणववैकल्यसिद्धिसंभावनापरम् ।
वैमल्यमीश्वराख्ये च द्वितीये याति पर्वणि ॥ ३४८ ॥

तथा पर्वणि सादाख्ये तृतीये वेद्यलक्षणः ।
इदंप्रतीतिरूपस्य विश्वरूपस्य वस्तुनः ॥ ३४९ ॥

आच्छादितत्वात्स्वं वीर्यं प्रत्याहृतसमस्तया ।
अहमाशान्तकल्लोलश्चिदब्धिः स्वास्थ्यमश्नुते ॥ ३५० ॥

शक्तिरूपे तथा स्वस्मिन्यसापेक्षतोज्झिते ।
स्वभानादात्मनः पूर्णादवियोगिन्यनश्वरे ॥ ३५१ ॥

आत्मन्यायतते तिष्ठन् बुनध्यते स्वस्यपूर्णताम् ।
तत एव शिवाख्येऽस्मिन्नशुद्धेर्भेदलक्षणः ॥ ३५२ ॥

सर्वात्मना तिरोधानाच्छुचिः संवर्तको भवन् ।
कर्षानुत्तरसंघट्टव्यश्नसंविन्नभोऽन्तरे (?) ॥ ३५३ ॥

स्वाहाज्वालासभालीढतत्त्वौघो ज्वलति स्वयम् ।
एवं चोदकरूपस्य शिवस्यैवं स्वरूपतः ॥ ३५४ ॥

एतद्विश्रान्तिनिस्ठोऽणुरुक्तेनाभ्यासवर्त्मना ।
मुहूर्तादिक्रमेणैव पुरोक्ते तत्त्वपञ्चके ॥ ३५५ ॥

शुद्धाशुद्धाध्वरूपे यद्वर्तते दृक्क्रियामयम् ।
स्वातन्त्र्यमैश्वरं सर्वमश्नुते तत्परः परम् ॥ ३५६ ॥

एवं मुक्तिमयी भुक्तिः फलत्वेनास्य कीर्तिता ।
चोदकाभ्यासनिष्ठस्य विसर्गांशव्यवस्थितेः ॥ ५५७ ॥

मुक्तिर्ब्रह्मांशनिष्ठस्य भुक्तिश्चैकेति सूचिता ।
चतुर्थ्यां परविश्रान्तौ सर्वमेकरसात्मना ॥ ५५८ ॥

अभेदेनैतदुक्तं तत्त्रयमास्ते यथा महान् ।
वृक्षो न्यग्रोधधानायां तद्धानात्मस्वरूपया ॥ ५५९ ॥

तच्चक्त्यैवात्मना भाति तथात्र हृदयात्मनि ।
बीजे तच्छक्तिभेदेन चरं शुद्धं प्रमातृ च ॥ ३६० ॥

अचरञ्च तथाशुद्धं मेयं च प्रथतेऽखिलम् ।
तस्माद्यत् सूचितं पूर्वं सद्यो योगविमोक्षदम् ॥ ३६१ ॥

अरुद्रयोगिनीजातो न लभेतैतदित्यतः ।
स्वात्मचिद्भैरवावेशमात्रसिद्धिप्रयोजनम् ॥ ३६२ ॥

तदेतदुपसंहारद्वारा प्रकटमुच्यते ।
'एवं यो वेद तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी ॥ ३६३ ॥
दीक्षा भवत्यसंदिग्धा तिलाद्याहुतिवर्जिता ।'
एवमुक्तेन रूपेन निःशङ्कत्वेन निश्चितः ॥ ३६४ ॥
यो वेत्ति हृदयत्वेन बीजमेतद्विकस्वरम् ।
तस्यास्य परमार्थेन दीक्षा निर्वाणसत्फला ॥ ३६५ ॥
भवन्येवास्तसन्देहा तथा ह्येष स्वसंविदा ।
एतद्धृदयतालाभे तद्गताभिस्तदात्मभिः ॥ ३६६ ॥
संविद्भिर्दत्तमेवैतत्पूर्वं हृदयलक्षणम् ।
ज्ञानं क्षपितमेवैवं संकोचात्म च पाशवम् ॥ ३६७ ॥
जानात्येव ततो दीक्षा दानक्षपणलक्षणा ।
स्वप्रतीतिप्रथासारा सैषा ज्ञानस्वरूपिणी ॥ ३६८ ॥
अतो नात्र तिलादीनामुपयोगः क्रमात्मनाम् ।
एतावज्जीवतो मुक्तिमात्रनिष्ठितचेतसः ॥ ३६९ ॥
एतल्लाभादिकं किंचिन्नोपयोगीति दर्शितम् ।
अधुना तु समावेशाभ्यासार्थमुपयोगवान् ॥ ३७० ॥
पूजाविधिः स वक्तव्यो यतो वक्ष्यति शासनम् ।
कृसपूजाविधिर्बीजं स्मरन् स्यात्सिद्धिभागिति ॥ ३७१ ॥
तस्मादत्र शरीरादौ तदभ्यासोपदर्शनम् ।
कृतं करिष्यते चेति धिधातुं तत्र हृन्मतिम् ॥ ३७२ ॥
प्राप्तं तालमनुक्तादौ न्यासमेवाह शासनम् ।
'मूर्ध्नि वक्त्रे च हृदये गुह्ये मूर्त्तौ तथैव च ॥ ३७३ ॥
न्यासं कृत्वा शिखां बद्ध्वा सप्तविंशतिमन्त्रिताम् ।
एकैकेन दिशां बन्धं दशानामपि कारयेत् ॥ ३७४ ॥
तालत्रयं पुरा दत्त्वा सशब्दं विघ्नशान्तये ।
पुष्पादिकं क्रमात्सर्वं लिङ्गं वा स्थण्डिलं चवा ॥ ३७५ ॥
शिखासंख्याभिजप्तेन तोयेनाभ्युक्षयेत्ततः ।
स्वचैतन्यैकतानीतधगत्रित्वोदयात्मकम् ॥ ३७६ ॥

वाचः परायाः वक्त्यर्थरूपायाः हृदयात्मनः ।
विवक्षाध्यवसोक्त्यात्मपश्यन्त्यादिक्रमात्मनः ॥ ३७७ ॥

परादिशक्तिरूपेण प्रसरत्त्रित्वसूचकम् ।
मातृमानार्थसद्भावबाच्यांशत्रितयात्मकम् ॥ ३७८ ॥

हृदयं भैरवीयं तदात्मत्वेनावधारयन् ।
तदंशोऽन्तरुपांशूच्चैः शब्दनक्रमलक्षणम् ॥ ३७९ ॥

शक्त्यादिचतुरण्डोद्यत्पातालक्ष्मान्तरिक्षगान् ।
सर्वान् शमयितुं विघनान् भेदतद्धीमयान्विभून् ॥ ३८० ॥
तालत्रयं पार्ष्णिगहस्तमुखशब्दनमाचरन् ।
स्वीकुर्वन्मातृमापीयत्रयसद्भावलक्षणम् ॥ ३८१ ॥
सृष्टिं स्वकीयामाविश्य संविदं शक्तिमादितः ।
जन्मचारप्रवाहाख्यलयविच्छित्तिलक्षगाः ॥ ३८२ ॥

दृश्यमानाः शरीरेऽत्र स्वकीये सततोदिताः ।
आत्मनो भैरवीयस्य हृदयामृतवारिधेः ॥ ३८३ ॥
चिदानन्दैषणाज्ञानक्रियाख्याः स्पन्दसंपदः ।
विमृश्य हृदयेऽत्रैव सर्वतत्त्वमये निजे ॥ ३८४ ॥

भाति देहतया कास्यहृदगृह्याङ्घ्रिद्वयात्मता ।
पञ्चकृत्वो न्यसेद्बीजं तेषु स्थानेषु वञ्चसु ॥ ३८५ ॥
विश्वसत्तामयब्रह्मपञ्चकस्फूर्त्तिलक्ष्मसु ।
एवं हृदयविद्वृद्धेः समाश्लेषात्तदात्मनः ॥ ३८६ ॥

शिखावतोऽस्म हेदस्य या शिखा संविशिष्यते ।
तद्व्यापकतया द्योतत्तज्ज्वालारूपणोचिते ॥ ३८७ ॥

बुद्धिप्राणमयात्मोर्यप्रकाशस्पन्दनात्मता ।
तस्याः स्वव्यापितद्देहषट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता ॥ ३८८ ॥

तासामन्योन्यभावेन प्रत्येकं पञ्चकात्मता ।
शक्तीनां पञ्चविंशत्या प्रोक्ताभ्यां च तदात्मनः ॥३८९॥

द्वाभ्यामुभयविश्रान्तितत्त्वाभ्यां तत्त्वसंपदम् ।
जातया सप्तविंशत्या बोजोच्चारस्वरूपया ॥ ३९० ॥

विमृश्य बन्धनं कुर्यात् तत्त्वेत्यनियमात्मकम् ।
स्थूले सूक्ष्मे परे देहे कृत्वैवं हृदयात्मताम् ॥ ३९१ ॥

दिशो दिशापि हृदयपरामर्शैकशेषताम् ।
नयेत्सकृत्सकृद्बीजं स्मरन्नास्ते कृताखिलः ॥ ३९२ ॥

अथार्घ्यपात्रविश्रान्तपरानन्दरसस्य च ।
शिवसमाधिनाधाय हृदयैकस्वरूपताम् ॥ ३९३ ॥

लक्षणाम्युक्षगद्वारा कृत्वेदन्तां विलापयेत् ।
पूजोपयोगिपुष्पौघं तदेकरसतां नयेत् ॥ ३९४ ॥

पूजाधिकरणं लिङ्गं स्वान्तादि च यथोदितम् ।
सामान्यतो विशेषाच्च कृत्वैवं भेदशीलयम् ॥ ३९५ ॥

हृदयैकात्मतां नीते तत्त्वादौ वेद्यविस्तरे ।
आधाराभिमते क्वापि संभवत्यत्र वस्तुनि ॥ ३९६ ॥

पूज्यस्वरूपनिष्कर्षः वं पूजोच्यतेऽधुना ।
'चतुर्दशाभिजप्तेन पुष्पेणासनकल्पना ॥ ३९७ ॥

तत्र सृष्टिं यजेद्धीरः पुनरेवासनं ततः ।
सृष्टिं तु संपुटीकृत्य पश्चाद्यजनमाचरेत् ॥ ३९८ ॥

सर्वतत्त्वसुसंपूर्णां सर्वावयवभूषिताम् ।
यजेद्देवीं महेशानीं सप्तविंशतिमन्त्रिताम् ॥ ३९९ ॥

ततः सुगन्धिपुष्पैश्च यथाशक्त्या समर्चयेत् ।
पूजयेत्परया भक्त्या आत्मानं च निवेदयेत्' ॥ ४०० ॥

यैषा विस्पष्टताद्यात्मजागरादिप्रथामयी ।
पृथिव्यादिपुमन्तानां तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ॥ ४०१ ॥

तत्संभावमयीमाद्यां कलां हृदयसंविदः ।
आद्यं पर्वात्मतत्त्वाख्यं तदुन्मेषोनतात्मकम् ॥ ४०२ ॥

तद्भिन्नाभिन्नसंवित्तिकञ्चुकब्रह्मविग्रहम् ।
तत्त्वद्वयं शक्तिशंभुमयं व्याप्यावभासिनीम् ॥ ४०३ ॥

त्रिशूलरूपिणीं वृत्तिं तुरीयामुत्तरं तथा ।
परामृश्यासनांशस्य पर्वतद्वयविग्रहे ॥ ४०४ ॥

आसनेऽस्मिन्नशेषैतत्सद्रसैकत्वचिन्मयीम् ।
आत्मनोऽनुत्तरस्यात्मभूतां भैयवरूपिणः ॥ ४०५ ॥

स्वान्तः स्थाव्यतिरेकेण क्षिप्तादिक्षान्तसृष्टिकाम् ।
विसर्गरूपिणीं वृत्तिं तुर्यातीतात्मिकां पराम् ॥ ४०६ ॥

विमृश्य देवतां पूज्यां विसर्गं बीजमुच्चरन् ।
पुष्पेण तां प्रतिष्ठाप्य तस्यां तत्तादृशात्मनि ॥ ४०७ ॥

तदासनांशविश्रान्ततत्त्वक्रमशरीरिणीम् ।
अशेषां वाङ्मयीं सृष्टिं तुर्याद्याभोगशालिनीम् ॥४०८ ॥

क्षिपेद्येन विसर्गोऽयं तन्मध्यस्थानुभावतः ।
तदुत्तीर्णां तदात्मानं सर्वक्रमशरीरिणीम् ॥ ४०९ ॥

सर्वैरवयवीभूतैर्भूषितां भावराशिभिः ।
स्वात्मीकृत्य स्वयं भाति कला सा तादृशी परा ॥४१०॥

ततस्तादृशतद्रूपस्वरूपामर्शरूढये ।
हृदयङ्गमतारूप – सौरभ्यभरितोदयैः ॥ ४११ ॥

स्वात्मार्पणवशात्तस्मिंस्तस्य रूपस्य पोषकैः ।
पुष्पादिसद्भावजातैरुपचारैर्यथोदितैः ॥ ४१२ ॥

तां देवतां तदात्मत्वचमत्काररसात्मना ।
पूर्णया स्वस्य संवित्त्या तत्पूर्त्यादर्शरूपया ॥ ४१३ ॥

स्नानधूपाञ्जनालेपताम्बूलासवमुख्यया ।
बाह्यया चापि संपत्त्या पूजयेत्सम्यगात्मनः ॥ ४१४ ॥

देहादिना निमग्नत्वममप्रहृत्यपूर्वया ।
तत्पूज्यदेवतासंविदुत्कर्षामर्शरूपया ॥ ४१५ ॥

तदेकरसतावेशश्रद्धातिशयतत्त्वया ।
भक्त्या भजनरूपिण्या परया पूर्णरूपया ॥ ४१६ ॥

परा च याऽसौ पुष्पादेर्भक्तिः पूजयोपयोगिनी ।
उक्तैतत्स्वात्महृद्रयहठावेशक्रियापदः ॥ ४१७ ॥

भागः परिमलाद्यात्मा तच्छक्तिस्तत्स्वरूपया ।
भक्त्येत्युक्तेन रूपेण पूजायाः पूर्त्तिलक्षणः ॥ ४१८ ॥

संपूर्यमाणमात्मानं सर्वभिदघनां चितिम् ।
सप्तविंशतिवारोक्तहृदयामर्शनक्रियः ॥ ४१९ ॥
निश्चितेनात्मभावेन ..... (?) ।
नियतेनात्मभावेन नियमेनामृशेन्मुहुः ॥ ४२० ॥
एषा पूजोदिता तावदस्याः पूर्त्तीहलक्षणा ।
सा भोक्त्र्याः संविदस्तस्या भुक्तायास्तत्त्वपद्धतेः ॥४२१॥
पुनः प्ररोहौचित्यात्मसंस्कारात्मतया स्थितिम् ।
अजीर्णेव भिदा जन्मव्यापिशंकोदयावधिम् ॥ ४२२ ॥
न भवेद्भस्मसाद्भावतद्भोग्यत्वविलापनम् ।
अतीत्येत्याशयेनैनां सपर्यामुस्संहरन् ॥ ४२३ ॥
सूचयत्यतिदिष्टेन विधानेन हुतिक्रियाम् ।
'एवं यजनमाख्यातमग्निकार्येऽप्ययं विधिः' ॥ ४२४ ॥
हुतिक्रियायां तत्रापि तद्विभूताध्यविप्रुषा ।
अभ्युक्षणं तिलादीनां स्रुक्स्रुवादेर्हुताशनः ॥ ४२५ ॥
हुताशने च पूर्वोक्तवर्त्मनासनकल्पनम् ।
भोक्तृस्वरूपनिष्कर्षस्तत्राक्षेपो जगत्स्थितेः ॥ ४२६ ॥
तद्भुक्ततत्त्वसंस्काररूपभोग्यविलापनम् ।
हवनेन तिलादीनां षट्त्रिंशत्तत्त्वताजुषाम् ॥ ४२७ ॥
तदेकरसतावेशतत्त्वात्मा वर्णरूपिणी ।
पूर्णाहुतिक्रियेत्येवं तत्प्रकारः प्रतीयताम् ॥ ४२८ ॥
एवं यजनहोमात्मा पूजैषा पूर्त्तिरूपिणी ।
आभ्यन्तरैर्वसंकल्पात्या बाह्यद्रव्यौपसंहृतेः ॥ ४२९ ॥
निवर्तितेन भावेन सूत्रे पश्चात्तु संगतिः ।
'कृतपूजाविधिः सम्यक्स्मरन्बीजं प्रसिद्ध्यति' ॥ ४३० ॥
..... सम्यक् चेत्तेन वर्त्मना ।
वक्ष्यमाणेन विश्वस्य बीजं हृदयमात्मनः ॥ ४३१ ॥
स्मृतिरूपपरामर्शविषयत्वं समानयन् ।
सम्यक् चापास्तसन्देहविभ्रमाव्याप्तिलक्षणाः ॥ ४३२ ॥

प्रकृष्टेन प्रकारेण सिद्धिः पूर्वोक्तलक्षणाः ।
त्रैकाल्यदर्शनाद्यास्ता भगवान् भैरवो यथा ॥ ४३३ ॥

आप्त्वानेनैव देहेन प्रसिद्धो भुवने भवेत् ॥
बीजात्मनो विमर्शस्य भातोऽप्यभिनवात्मनः ॥ ४३४ ॥

अस्य पूर्वा(र्णा दिरूपेण स्वरूपेणावभासनात् ।
अपास्तकालकलनाभेदयोगितयेष्यतः ॥ ४३५ ॥
आभासनीलरूपस्य सर्वथाभ्यन्तरस्य च ।
सतोऽवभासनादुक्तं विश्रान्तित्रयलक्षणः ॥ ४३६ ॥

वस्तुनः स्मृतिसादृश्यात्स्मृतित्वेनोपदेशनम् ।
यत्रा च प्रत्ययेनास्तविच्छेदस्वापभासनम् ॥ ४३७ ॥

परामृष्टारमादेवं वन्दे (?) दर्शयता शिवम् ।
सूच्यतेऽयं परामर्शः तथा स्वीक्रियतां यथा ॥ ४३८ ॥

उक्ताद्विच्छेदराहित्यादकालकलितत्वतः ।
सकृदक्रमरूपेण विशेषेणात्मतात्मना ॥ ४३९ ॥

भाति स्वानुभवेनैव प्रमाणेनास्तसंशयम् ।
इति नन्विदमुक्तं यत् 'सम्यक् बीजं स्मरन्निति' ॥४४०॥

तत्सम्यक्त्वं स्मृतेरस्याः पूर्वं यद्यपि दर्शितम् ।
'कालाग्निमादीत्यनेन' ग्रन्थेन विततात्मना ॥ ४४१ ॥

तथापि स्फुटताभाजा रूपेणास्य विनिर्गयम् ।
विधातुं विधिरूपेण निरूपयति शासनम् ॥ ४४२ ॥

'आद्यन्तरहितं बीजं विकसत्तिथिमध्यगम् ।
हृत्पद्मान्तगत ध्यायेत्सोमांशुं नित्यमभ्यसेत्' ॥ ४४३ ॥

बीजं वाचकरूपं यद्वाच्यः सोमांशुरस्य यः ।
उभया स्वात्मसंवित्त्या विश्वोत्तरतदात्मना ॥ ४४४ ॥

आत्मनोदयमानोऽसावात्मा संमस्य भात्मनः ।
ज्ञातृताकर्तृतारूपयामलात्मा स्वतन्त्रता ॥ ४४५ ॥

इच्छादिसंविच्छक्त्यैक्यमयी संघट्टरूपता ।
पृथ्व्यादिशिवपर्यन्तषट्त्रिंशत् स्फूर्त्तिरूपया ॥ ४४६ ॥

इत्येतत्त्रितयात्मा च प्रकाशः सार्वकालिकः ।
द्वयं तदपि भेदेन वाच्यवाचकतात्मना ॥ ४४७ ॥
अभ्यसेदुपदेशो यः पाठे सोमांशुमित्यतः ।
सोमांशमिति पाठे तु पूर्णचिच्चन्द्रलक्षणः ॥ ४४८ ॥
प्रकाशानन्दसद्भावमत एव स्वभावतः ।
ज्वलनं गलनं चैव वृत्तिं सारयताश्रयन् ॥ ४४९ ॥
संकुचद्विकसत्त्वेन तेन स्वातन्त्र्यलक्षणा ।
प्रदर्शयन्पृथिव्यादिशिवान्तां तत्त्वविस्तृतिम् ॥ ४५० ॥
तदुन्मेषनिमेषात्मसंविच्छततोदयम् ।
तत्संपादनसामर्थ्यसतत्त्वस्वपुरामयम् ॥ ४५१ ॥
सकारौकाराःकारात्मस्वकीयांशत्रयात्मना ।
उत्तरोत्तरमाविष्टं शश्वत् भागत्रयेण च ॥ ४५२ ॥
अनुत्तरत्रिकोणात्म यदेतद्धुतयं महत् ।
सोकश्चांशाश्च सोमांशमिति सामस्त्यमानतः ॥ ४५३ ॥
समाहारस्वरूपेण द्वन्द्वेनापादितोदयम् ।
तदेतदाभिमुख्येन स्वसंविद्रूपविश्रमम् ॥ ४५४ ॥
चतुष्कं शून्यधीप्राणदेहात्मनि चतुष्टये ॥
चतुष्टयं तूत्तरत्र क्षिपेत् पूर्वादितो यथा ॥ ४५५ ॥
तथा सोमांशतैवात्र जडतालौ(रौ)हलक्षणा ।
शून्यादितैव तत्रापि त्यक्तपारोक्ष्यमीलना ॥ ४५६ ॥
भासते चिन्मयत्वेन प्रत्यक्षत्वेन वाङ्मनः ।
विलमुक्तं भवेद्रूपं विसर्गाणां चतुर्विधम् ॥ ४५७ ॥
तत्र सौममयं पूर्णमुदयव्ययवर्जितम् ।
सकृद्विभातं विश्वस्य बीजं तद्भावतः सदा ॥ ४५८ ॥
पीतः स विश्वभावेन विश्वस्थितिविधायिनाम् ।
तत्संकलनरूपत्स्वस्वभावात्कालताजुषाम् ॥ ४५९ ॥
शब्दराशिमयस्वात्मलहरीस्पन्दनात्मनाम् ।
संविन्मरीचिचक्राणां चक्रवर्त्तित्वमास्थितम् ॥ ४६० ॥

समस्तज्ञेयशून्यत्वमयस्वप्रथनात्मनि ।
जानाति सा तु तन्मात्रे प्रकाशे प्रत्यगात्मनि ॥ ४६१ ॥

क्षियेद्भेदतो येन सोमस्यात्मतयोदयात् ।
अमित्यपास्तपारोक्ष्यं साक्षित्वं सततं भवेत् ॥ ४६२ ॥

सोमे तत्रात्मनः क्षेपात् प्रतीचस्तत्तयोदयात् ।
त्यक्तसंकोचमालिन्यमीलनाविशदात्मनः ॥ ४६३ ॥

अशेषविश्वभरितमचिन्त्यानन्तशक्तिकम् ।
अखण्डैकरसानन्दस्फुरणात्मकमद्वयम् ॥ ४६४ ॥

आत्मत्वमनिदंत्वेन भवेत् साक्षादनारतम् ।
सोमस्यैवं विसर्गस्य पूर्णसंवेदनात्मनः ॥ ४६५ ॥

पूर्णभैरवतैवोक्ता सिद्धिरित्युदितं भवेत् ।
तदंशेषु यदाद्यन्तस्वरव्यञ्जनवर्जितम् ॥ ४६६ ॥

बीजं विसर्गरूपत्वात् स्थितं पूरयतान्निजाम् ।
शब्दनात्मतया स्वीयस्वविमर्शातमताजुषाम् ॥ ४६७ ॥

स्वप्रकाशाविनाभूतस्वयं प्रथनलक्षणाम् ।
चिदादिबिन्दुपर्यन्तसंवेदवमयात्मनाम् ॥ ४६८ ॥

स्वराणां तिथिरूपाणां विकासोन्मुख्यलक्षणम् ।
स्वेशनासंविदन्तःस्थं स्वशक्त्या तुर्यरूपया ॥ ४६९ ॥

आभासितं बहिष्ट्वेन कादिक्षान्ताक्षरात्मकम् ।
पृथिव्यादिशिवात्मान्तविश्वमात्मतया श्रयत् ॥ ४७० ॥

तद्विद्यायामशुद्धायामपूर्णोस्मीति संविदि ।
अशेषाभेदकलनावागुरासूत्रणात्मनि ॥ ४७१ ॥

सुखी दुःखी विमोढोऽस्मीत्येवंवृत्तिलक्ष्मणि ।
हृदि क्षिप्तेद्येन सोऽयं विसर्गः पूर्णचिन्मयः ॥ ४७२ ॥

तत्सामान्तया तत्त्वमाप्त्वा साक्षाद् भवेत्सदा ।
सा च क्षिप्ता विसर्गेऽस्मिन् तदेकरसतां गता ॥ ४७३ ॥

तत्पूर्णतासमाविष्टा सर्वतत्त्वशरीरिणी ।
सर्वाक्षरसमाहारसंविद्रूपाहमात्मिका ॥ ४७४ ॥

ज्ञातृताकर्तृतारूपप्रमातृत्वात्मिका भवेत् ।
विसर्गतिमा विसर्गोऽयं विश्वं वेत्त्यहमित्यतः ॥ ४७५ ॥

वेदको वित्तिभेदैक्यविधातैवं निरूपितः ? ।
सोमस्य वेदितुस्तस्य या शक्तिर्वाङ्मयी परा ॥ ४७६ ॥

वित्तिर्यया विदन्विश्वं स्मरन्नयमपोहति ।
स्वान्तःस्थितं तदात्मानं भवन्संविन्मयत्वतः ॥ ४७७ ॥

एतदाद्यन्तभूतैतत्सद्विसर्गद्वयोज्झितः ।
बीजं त्रिशूलवृत्त्यात्मविश्वस्थितिमयात्मना ॥ ४७८ ॥

स्वरव्यञ्जनरूपाणां कलानां कलनत्वतः ।
चोदकत्वेन माध्यस्थ्यरूपं तादात्म्यमाश्रयत् ॥ ४७९ ॥

मायामयसुषुप्त्युद्यद्बीजात्मात्तहंक्रियात्मनि ।
कलनात्मतया योगकलातत्त्वस्वरूपिणी ॥ ४८० ॥

समीरात्मतया पञ्चवृत्तिस्पन्दनलक्षणे ।
प्राणे हृद्युक्तिवेद्येन चोदिकेयं तदात्मताम् ? ॥ ४८१ ॥

पूर्णसंफ(क)लनात्मत्वादाप्त्वा साक्षाद्भवेत्सदा ।
तत्र क्षेपात्तथा प्राणस्तन्मयीभावयोगतः ॥ ४८२ ॥

स्वस्पन्दनमयाशेषस्वरव्यञ्जनवाङ्मयः ।
सर्वतत्त्वमयत्वेन तन्मयं देहमाविशन् ॥ ४८३ ॥

ज्ञानस्मृतिविकल्पात्मविश्वसंवेदनात्मकम् ।
वेदितुं करणं मत्वा भवेत् साक्षादनाश्रितः ॥ ४८४ ॥

सोमस्य वेदितुस्तस्य स्वात्मनो वेदनात्मनः ।
तया करणसंपत्त्या संपादितजगत्स्थितेः ॥ ४८५ ॥

यैषा संबन्धसामान्यद्रव्यदिक्कालरूपिणी ।
सत्तात्मा कर्तृतारूपा क्रियास्मीत्यनपायिनी ॥ ४८६ ॥

सृष्टिस्वरूपिणी विश्वं षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्ततिम् ।
शरीरयन्ती शब्दाख्येस्तस्य प्रत्याहृतक्रमा ॥ ४८७ ॥

अहमित्यात्मविश्रान्तिः सा सदोदेति सर्वदा ।
तत्स्वरेणादिभूतेन विसर्गेणान्तिमेन च ॥ ४८८ ॥

रहितं केवलं बीजं सद्रूपं तत्त्वलक्षणम् ।
आत्मना लब्धसत्तानां तत्त्वानां वेदनात्मनः ॥ ४८९ ॥

दशायाः शक्तिरूपाया अवरुह्य इदमात्मना ।
संविदा वेदनीयत्वं प्राप्तानां स्थितिमाजुषाम् ॥ ४९० ॥

विश्वस्य कादिक्षान्तात्मस्वरव्यञ्जनतात्मनाम् ।
माध्यस्थ्यमात्मतारूपं चोदकस्वरतामयम् ॥ ४९१ ॥

आश्रयद्धृदये देहे क्षिपेद्येन तदाग्निका ।
सैषा क्रिया तत्सद्भावरूपा साक्षाद्भवेत्सदा ॥ ४९२ ॥

तत्र क्षेपेण देहोऽयं तल्लीनत्वेन तन्मयः ।
तद्भूतमुखपाण्यङ्घ्रिमध्यधातुसमीरचित् ॥ ४९३ ॥

अनपोह्यान्यभावेन तस्याहंत्वेन वेद्यताम् ।
अन्तःकृताखिलार्थेन भवेत् प्राप्तमनारतम् ॥ ४९४ ॥

इत्येवं सोमताभाजामंशानामंशताजुषाम् ।
सोमस्य च स्वरूपेण शून्यादीनां चतुष्टयम् ॥ ४९५ ॥

स्वीकुर्वन्नात्मना सिद्धरसन्यायेन रूपयन् ।
विसर्गेण विधायैषां तन्मयत्वे स्ववर्णताम् ॥ ४९६ ॥

अपोह्य पूर्वतद्रूपजाप्यरूपान्यथा कृताम् ।
पूर्वोक्तेन पथाभ्यस्यन् सोमास्थानन्दलक्षणम् ॥ ४९७ ॥

कालस्य ग्रसनं कुर्वन्मुहूर्त्तादिक्रमात्मनः ।
'यान्यान्कामयते कामांस्तांस्तांच्छीघ्रमवाप्नुयात्'॥४९८॥

आरभ्य मन्त्रमुद्राणामावेशं प्राणदेहयोः ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वविष्टया च स्वातन्त्र्यावाप्तिसंपदम्॥४९९॥

अवधीकृत्य पूर्वोक्ताः सिद्धीः सम्यगवाप्नुयात् ।
'अहा प्रत्यक्षतामेति सर्वज्ञत्वं न संशयः' ॥ ५०० ॥

यावद्यामचतुष्कात्मदिनं तावदवस्थितिः ।
यद्याचरति पूर्वोक्तसोमस्वादनलक्षणम् ॥ ५०१ ॥

तदास्य सर्वतोऽव्यक्ते विततते स्वात्मतेजसा ।
मायासंकोचरूपायां निशायां शमितात्मनि ॥ ५०२ ॥

प्राप्तायामनुपाख्यत्वं स्वा मचित्प्रसरात्मनि ।
तुरीयतदतीतात्मदशाद्वितयलक्षणे ॥ ५०३ ॥

प्रवृत्तेऽहनि सार्वज्ञ्यंमसन्दिग्धं प्रवर्तते ।
'एवं मन्त्रफलावाप्तिरित्येतद्रुद्रयामलम्' ॥ ५०४ ॥

एव मन्त्रफलानां यदुक्तसिद्धित्रयात्मनाम् ।
अनुत्तरादितो बीजादुक्तादेवाप्तिरित्यतः ॥ ५०५ ॥

एतत्तत्प्रथनायोद्यच्छासनं रुद्रयामलम् ।
सपादकोटिसंख्यातं फलसंपादकं महत् ॥ ५०६ ॥

एतदेव हि बीजात्म तदुक्तं रुद्रयामलम् ।
शिवशक्त्योस्तयोरत्र नित्यसंघट्टदर्शनम् ॥ ५०७ ॥

अत एवोक्तरूपंद्धृदयाभ्यासशालिनः ।
संक्षेपतः फलं प्राह शासनं शासितुः पुरा ॥ ५०८ ॥

'एतदभ्यस्य तत्सिद्धिः सर्वज्ञत्वमवाप्यते' ।
जिज्ञासितं वा यत्किंचिच्चिकीर्षितमथापि वा ॥ ५०९ ॥

यथा तथैव जानाति करोति तदशेषतः ।
अयमस्य स्थितैवोक्ता परा भैरवरूपता ॥ ५१० ॥

अभ्यासेन विनापीति पूर्णं श्रीशासनं शिवम् ।
एवं देवेन शासित्रा स्वरूपं यदनुत्तरम् ॥ ५११ ॥

सदा प्रकाशमानं सदपि स्वातन्त्र्यसंपदा ।
पूर्णया स्वस्य विच्छिद्य धाम्नो याथात्म्यलक्षणात् ॥ ५१२ ॥

तत्तच्छङ्कात्मसंकोचकारि लोकादिरूपिणाम् ।
तन्त्राणां नैतदेवं स्यात्तत्त्वमेतादृशत्वतः ॥ ५१३ ॥

तत्प्रवृत्तिश्च नैषा सार्वेवंत्वादुदितेति च ।
बहुधा कथनेनैव गोपितात्मात्र शासने ॥ ५१४ ॥

स्वपरामर्शरूपे तद्धृदयत्वेन भासितम् ।
व्याख्याकृतोऽपि श्रीशास्त्रमनुत्तरमिदं तथा ॥ ५१५ ॥

स्वस्मात्स्थानादपोह्यैव परत्राक्षिप्तसूत्रकम् ।
तन्त्रात्मना गोपितार्थंभाषयाप्याकृताविह ॥ ५१६ ॥

भासितात्मीयहृदयं जातं प्रोक्तमथात्मनि ।
व्याख्यात्रा श्रोतृशिक्षार्थं व्याख्या त्वागमवस्तुनः ॥ ५१७ ॥

अप्रमोषात्मसात्कारविधित्सासिद्धचेतसा ।
व्याख्यादौ पूर्णरूपाया विश्रान्तेर्लक्षितत्वतः ॥ ५१८ ॥

विश्रान्तीनां तदंशत्वात्तत्संवित्स्थैर्यलक्षणम् ।
तिसृणामधुना रूपं वक्ष्यते ते स्वकर्मगः ॥ ५१९ ॥

हे भोक्तृमुदिताविश्वाः ? सन्तः साधकपुङ्गवाः ।
त्यक्त्वान्यकायचिन्तात्मविभ्रमैः श्रूयतामिदम् ॥ ५२० ॥

अनुत्तरस्य सोमस्य सत्तां तत्त्वात्मनां ताम् ।
समस्तसंपत्संपत्तिपरितृप्तिप्रथामयीम् ॥ ५२१ ॥

समाविश्यात्मभावेन तास्ताः स्वाभोगसंपदः ।
अवाप्नुतास्तसन्देहविपर्यस्ततयोदिताः ॥ ५२२ ॥

एतद्व्याख्याविमर्शात्मविवेकमयचेतसाम् ।
मा भूद्भ्रमो वः सच्छिष्या ह्यन्यव्याख्याविचारणे ॥ ५२३ ॥

एतदर्थात्मसात्कारमात्र एव ह्यवाप्नुत् ।
स्वीयस्य भैरवस्यैव चमत्कारमयीं श्रियः ॥ ५२४ ॥

यस्यामनुत्तरानन्दौ पूर्णतोत्कर्षशालिनौ ।
योगक्षेमात्मतां श्रित्वा श्रूयते संहितोदयौ ॥ ५२५ ॥

शक्तित्रयात्मिका सैषा लोकसृष्ट्यादिकारणा ।
सतः सोमस्य संवित्तिः संप्रत्ययशरीरिणी ॥ ५२६ ॥

लोक्यसत्कवलीकारे लोकयित्रा मविश्रमे ।
अभितो जा···यं दक्षा त्रिशूलत्ररूपिणीम् ॥ ५२७ ॥

त्रिलोकीं च तदा म वमात्मीयप्रत्यभिज्ञया ।
स्वीकुर्वाणां चिदाह्लादपूर्णतावेशपुष्कला ॥ ५२८ ॥

अहमित्यात्मसात्काररूपायां कवलीकृतौ ।
वेद्यस्य सत्ता सततं शोभतामस्तविप्लवा ॥ ५२९ ॥

आत्मनापूर्यमाणं सदात्मना संविदोक्तया ।
क्षिपन्तीमात्मनोऽत्रैव क्रमाक्रमविभागवत् ॥ ५३० ॥

अनुत्तरस्य सोमस्य सुदतां नौमि षोडशीम् ।
एष स्पन्दनिधानस्य पुरे चित्परिषट्पतेः ॥ ५३१ ॥

तेनैव पञ्चकृत्यात्मनाट्याभिनयवेधसा ।
पुमांसं पुण्यसंपूर्णं कमप्याविशतेच्छया ॥ ५३२ ॥

इदंवादिनतः स्वस्मात् व्याख्याश्रीत्रोशिकात्मनः ।
शासनस्य स्वकीयस्य स्वालोकादर्शरूपिणः ॥ ५३३ ॥

तथाभिनवगुप्तोक्तविवृतिव्यावृतात्मनः ।
तात्पर्यैकप्रथात्मत्वात् नाम्ना तात्पर्यदीपिका ॥ ५३४ ॥

सेयं प्रकाशिताशेषत्रीशिकाशासनाशया ।
सविसासं नभोमध्ये सर्वमज्जलया समम् ॥ ५३५ ॥

सदारब्धं तु जगति स्वटनोद्योगशालिनः ।
पुरतः शाश्वतीमाप्त्वा स्थितिं देदीप्यते शिवम् ॥५३६॥

इति श्रीमत्सोमानन्दपादविरचिता श्रीपरात्रीशिकातात्पर्यदीपिका सम्पूर्णा